अध्ययन के विचार

लेखक—

प्रो० विष्णुकिशोर 'बेचन' एम० ए०

वितरक—

बिहार ग्रंथ कुटीर

खजांची रोड,

पटना—४

पुस्तक में संकलित मेरे सभी निबंधों का प्रकाशन समय-समय पर मासिक पत्रों में एवं भाषण के रूप में हो चुका है। अतः कहीं-कहीं विचारों की पुनरावृत्ति भी हो गई है।

जहाँ कहीं भी किसी विद्वान के विचारों एवं उद्धरणों का उपयोग किया गया है, वहाँ उनके नामों एवं पुस्तकों का यथा स्थान उल्लेख भी कर दिया गया है, मैं इन विद्वानों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

'इंसान की लाश' (कहानी संग्रह) के बाद यह मेरी दूसरी कृति आलोचनात्मक निबंधों की है; मुझे विश्वास है कि पाठक इसका उचित आदर करते हुए अपना अमूल्य सुझाव देकर मेरे मार्ग को प्रशस्त करेंगे।

विनीत,

'बेचन'

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
मुरारका महाविद्यालय, सुल्तानगंज,
(भागलपुर)

रथयात्रा २०१४
भगवान पुस्तकालय,
भागलपुर

श्रद्धेय पं० रावणेश्वर मिश्र

सदस्य बिहार विधान परिषद्

एवं

नवोदित जनवादी कथाकार

श्री प्रेमकुमार जायसवाल

को

क्रम

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
२	भोग	मात्र
६	Gwile	guide
१६	Expleitation	Exploitation
२७	ArIPitect	Architect
२६	सैन्धी	सौंधी
३०	Contimolly	Continually
,,	Reateer	Reader
,,	Tandentionel	Tendeutional
,,	dynomics	dynamics
,,	Shadowring	Shadowing
३३	mannerihm	mannerism
,,	maneer	manner
,,	Iatwsity	Intensity
३७	काई	कोई
३६	Meredity	Heredity
४१	की	कि
,,	बनाया	बनाता
,,	इसी	इस
४२	मनोश	मनोज्ञ
,,	लेती	लेता
४२	राम	राय
४२	ऊहापोरू	ऊहापोह
,,	व्यक्तिव	व्यक्तित्व
,,	दृष्टिक्रोण	दृष्टिकोण
४३	कबिता	कविता
,,	प्रयीगवाद	प्रयोगवाद
,,	करता	कराता
,,	फ	में
,,	जीवन	जीवनी
४४	सकती	सकता
,,	माध्य	मध्यम
,,	अँग्रेजी	अज्ञेय
४५	मर गर नहीं	मर गई नदी
४६	इसे	अन्यान्य
४७	का	के
,,	विषय	विषयों
४८	करना	करता
,,	उत	उन
,,	को	कोई
६५	हिन्ही	हिन्दी

पृष्ठ संख्या २

"मैं प्रगतिवाद की प्रचारात्मक कविता को कविता कहने का साहस नहीं कर सका हूँ"—

को इस प्रकार पढ़ें

"मैं प्रगतिवाद की प्रचारात्मक कविता को कविता न कहने का साहस नहीं कर सका हूँ।"

अध्ययन के विचार

आपके सामने दे रहा हूँ। इस सम्बन्ध में कुछ बातें कह देना आवश्यक समझता हूँ।....इसे लिखकर मैं यह नहीं मानता कि मैं कोई आलोचक या समालोचक बन गया हूँ। मैं अन्ततः साहित्य का एक विद्यार्थी हूँ—बहुत साधारण प्रतिभा का, जिसे कलम पकड़ने की भी तमीज नहीं है। विद्यार्थी जीवन के इसी अध्ययन मार्ग पर बढ़ता हुआ मेरा परिचय पहले पहल कविता से हुआ, फिर नाटक इत्यादि से-साहित्य की प्रवृतियों ने मेरे जीवन के कुछ अंश लिये-या यों कहें ये प्रवृत्तियाँ मेरे जीवन की एक-एक सीमाऐं हैं। इसी अवधि में अध्ययन एवं चितंन के फलस्वरूप कुछ निबंधों का प्रणयन हो गया-स्वाभाविक ढंगसे हो गया जिसे मित्रों एवं सम्पादकों के आग्रह पर पत्रों में भी छपवाता गया। फलतः मैं अपने को आलोचक नहीं मानता। इसीलिए पुस्तक का नाम करण भी कुछ वैसा ही हुआ है।

मैं आलोचक नहीं हूँ, इसीलिये मैं आलोचकों की प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं कर सका हूँ क्योंकि आलोचक होना बहुत बड़ी प्रतिभा का काम है। और न मैं असफल कवि बनकर आलोचक बनना ही चाहता हूँ।

जैसा मैंने बताया—

साहित्य में मेरे पाठक हृदय ने जब जो कुछ जिसे माना है मैंने लिखा है। हो सकता है वह मित्रों को न रुचे और वे कुछ भी आरोप कर सकते हैं—भय और प्रचारात्मक आरोप का असर मुझपर नहीं होता। क्यों कि मैं युग सत्य पर विश्वास करता हूं। गोर्की और शेली ने भी ऐसी रचनाएँ जनता की आखें खोलने के लिए की हैं, हिन्दी साहित्य का इतिहास भी बतलाता है कि भारतेन्दु-युग में अंग्रेजी कर व्यवस्था, विक्टोरिया की घोषणा इत्यादि से सम्बन्धित जो रचनाएँ हुई हैं वह क्या समकालीन नहीं थीं? लेकिन उसका मूल्य तो आज भी हम आंकते ही हैं। आज साहित्य के इतिहास की झलक उन रचनाओं से हमें मिलती है। उसे हम अमृत राय की तरह पोस्टर एंड स्लोगन्स कह कर छोड़ तो नहीं सकते [देखे "साहित्य में संयुक्त मोर्चा" अमृत-

राय]। आज पुनः जब कोई लेखक पाकिस्तान और अमेरिका की सैनिक संधि के विरुद्ध, [शंकर, शैलेन्द्र, राही इत्यादि ने ऐसी कविताएँ 'नया पथ,' 'जनयुग' इत्यादि में लिखी हैं] एवं हाईड्रोजन बम और युद्ध के खिलाफ अपने विचार साहित्य के माध्यम से प्रकट करता है तो क्या हम उसे कोई महत्व नहीं देंगे ? आखिर महत्व क्यों नहीं देंगे ? क्या वह युग सत्य नहीं है ? क्या युद्ध रोकने के लिए इस प्रकार की रचनाएँ नहीं होनी चाहिए ? हाँ, यह मैं मानता हूँ कि लेखक उसमें कलात्मकता को काफी सतर्कता के साथ अभिव्यक्ति दे। ऐसी रचनाएँ अक्सर काफी कलात्मक हो नहीं सकती, उससे आसानी से नारे बाजी भी कह सकते हैं, कहते ही हैं। पर इतना कहने से आलोचकों का आज पिण्ड नहीं छूटेगा, इन्हें परिस्थितियों का अध्ययन कर कुछ फैसला देना होगा।

युग सत्य की जब मैं बात करता हूँ तो युगसत्य प्राचीन रूढ़ अर्थ में नहीं आता। वह समकालीन जीवन, विशेषकर परोक्ष जीवन संपृक्त है। क्योंकि मैं मनुष्यता की अन्तिम जीत और जनवाद में विश्वास करता हूँ। इसीलिए मुझे नागार्जुन की कविता "चना जोर गरम", और भवानी प्रसाद मिश्र की "गीत फरोश" उतनी ही पसन्द है जितनी कि निराला की कविता और पंत की पल्लवयुगीन छाया वादी कविताएँ। निसंदेह मात्रविचार एवं नीरसता ने मुझे कभी नहीं रिझाया, पर मैं विचारहीन कविता से कभी प्रभावित नहीं होता हूँ। यही कारण है कि मैं स्वाभाविक ढंग से साहित्य में युगसापेक्ष को पहले देखता हूँ। इसीलिए प्रगतिवादियों की लाख आत्म-आलोचना करने पर भी आज तक मैं प्रगतिवाद की प्रचारात्मक कविता को कविता कहने का साहस नहीं कर सका हूँ। शायद भविष्य में भी ऐसा न कर सकूँ। क्यों कि मेरे हृदय में एक बात समाई सी रहती है कि आज के युगकी असमानता को देखते हुए असमानता को मिटाने के लिए प्रचारात्मक कविताएँ भी आवश्यक हैं। और उनका भी मूल्य है। आखिर हम साहित्य से चाहते क्या हैं ? भोग आनन्द ही तो नहीं ?

आनन्द के माध्यम से कुछ सीखना भी चाहते हैं ! सीखना भी चाहिए। बिना उसके हम साहित्य क्यों पढ़ें और वह सीखने का तत्व Sensibililty आज की प्रगतिशील कविता में बहुत है। इसीलिए मैं

कभी तुकों, लयों और छन्दों का ख्याल उतना नहीं करता जितना कि भाव का। मैं जानता हूँ, कविता में इससे लोच आती है, एक जीवन-शक्ति और असर करने का ढंग आता हूँ। पर यह सब तो पीछे भी लाया जा सकता है जब हम, अमन, खुशहाली और समानता के युग में पहुँचेंगे। पहले उस युग को लाने के लिए हमें संघर्ष का साहित्य रचना होगा। मैं यह भी मानता हूँ कि अगर साहित्य की साधारण (Craft) कला को छोड़ दिया जाय तो साहित्य में.... Anarchy होने लग जायगी। पर क्या किया जाय, कुछ दूर तक तो इसे होने ही देना है। क्रान्ति युग में anarchy होती ही है। हालां कि मैं ऐसी रचना को anarchy नहीं मानता और न मेरे कहने का यह अर्थ ही है कि व्याकरण की साधारण अशुद्धियाँ भी भाव के नाम पर की जायं। उसे देखकर घबड़ाना नहीं होगा। घबड़ाने से मेरे विचार में साहित्य को हानि छोड़कर लाभ नहीं हो सकता। मेरे यह विचार कोई कल्पनिक विचार नहीं हैं। प्रगतिवादी साहित्य के इतिहास ने इसे हिन्दी साहित्य के लिए भी बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। यह तो आज सभी प्रगतिवादी साहित्यकार मानता है। कुछ अगर नहीं मानते तो मानना चाहिए कि प्रगतिवादियों की आपसी कटु आत्म-आलोचना से प्रगतिवाद की बहुत बड़ी हानि हुई। उसका साहित्य कुछ कमजोर और बलहीन उसके निर्माताओं द्वारा बना दिया गया। स्यात इसीलिए कलाकारों प्रगतिवादियों की एक सबल शक्ति बटकर कथित प्रयोगवाद की ओर भाग गयी, जिस प्रयोगवाद को आज लाख हम लान्छित करें उसका कोई मूल्य न दें। मैं भी नहीं देता परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसने साहित्य के इतिहास में अपना स्थान बना लिया। चाहे किसी भी कारण से क्यों न हो, इसके लिए पूर्णरूपेण हिन्दी प्रगतिवादी साहित्य के मान्य प्रहरी श्री रामविलास शर्मा और श्री शिवदान सिंह चौहान दोषी हैं। इन लोगों ने साहित्यिक वैमनस्य और साहित्य के स्वरूप निर्धारण को लेकर इतना अधिक तू तू, मैं, मैं, किया कि प्रगतिवादी साहित्य का आज तक कोई स्वतन्त्र सैद्धान्तिक ग्रन्थ इनलोगों के द्वारा नहीं बन सका और जो बना भी है वह या तो कुछ विरोधी आलोचकों द्वारा गलत सलत प्रचार है और या तो कुछ में प्रगतिवाद के ऐतिहासिक पक्ष को काफी खोज एवं अनुभव के साथ न खोजने का दोष है,

जिस कारण प्रगतिवाद की परिभाषा देने में भी काफी असावधानी का परिचय मिलता है* । जब कि प्रगतिवाद के गत अठारह साल के साहित्य के आधार पर उसका स्वरूप निर्धारण हो जाना चाहिए था ये दोनों आलोचक वन्धु अब तक फुटकर निबन्ध ही देते चले जा रहे हैं। प्रकाश चन्द्र गुप्त, अमृत राय, राहुल इत्यादि ने भी अब तक ऐसा ही किया है । डा० रामविलास शर्मा की नवीनतम प्रकाशित पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्यकी समस्यायें' भी फुटकर निबन्धों का संग्रह ही है। इन फुटकर निबन्धों द्वारा या तो इन्होंने अपने आप को कभी कभी डिफेन्स किया है या कभी कभी सम्पादकों की मांग पर छोटे छोटे निबन्धों का प्रणयन किया है अथवा पुस्तक परिचय लिख-कर कभी कभी प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किया है। मैं यह भी अच्छी तरह जानता हूँ कि प्रगतिवादी धारा को स्थापित करने में जो संघर्ष हुआ उस कारण उन्हें छुट्टी नहीं मिली कि वे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण करते या प्रगतिशील साहित्य के इतिहास की रचना कर सकते।

एक लम्बे ग्रन्थ की रचना के लिये स्वतंत्र समय की आवश्यकता है, पर वह तो आज भी आलोचकों को नहीं मिलेगा, क्यों कि पूँजीवाद ज्यों-ज्यों विनाश के निकट पहुँचता है, उसका संघर्ष तीव्र होता जाता है फलतः संघर्ष की तीव्रावस्था में समय कहाँ। और फिर इस मार्ग का दूसरा अवरोधक है—दो प्रगतिवादी आलोचक 'ग्रूप' की अपनी-अपनी मान्यताएँ—श्री रांगेय राघव से सहमत होते भी उनकी पुस्तक "प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड" और श्री शिवदान सिंह चौहान की "आलोचना" में प्रकाशित सम्पादकीय को पढ़कर बहुत दुख होता है। उन्होंने जिस खीझ के साथ "कुत्सित समाज शास्त्रीय" आलोचक वर्ग की बार-बार पुनरावृत्ति की है, उतनी शक्ति के साथ उस वर्ग को पुनः एक बार समझना और उसके अनुसार कार्य करना अत्यन्त आवश्यक था। आज की परिस्थिति यही मांग कर रही थी पर इसे त्याग कर वे आलोचनाओं में रहे। आज मात्र नई स्थापना देने से तो काम नहीं चल सकता है, साहित्यकार के बिखरे हुए विशाल दल

* डा० धर्मवीर भारती, विजयशंकर मल्ल, शिवचन्द्र शर्मा इत्यादि ने ऐसी ही भूल की है। इससे गलतफहमी भी बढ़ती है।

को जुट करके आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। मैंने जिस 'anarchy' की बात ऊपर उठायी है, कुछ इसी प्रकार का आरोप शिवदान सिंह इत्यादि ने डा० शर्मा पर किया है। परन्तु डा० शर्मा के तल्ख विचार भी मुझे उतने ही सत्य जान पड़ते हैं जितनी कि शिवदान सिंह चौहान जी की कलात्मक प्रगतिवादी साहित्यिक व्याख्या! इसमें कोई संदेह नहीं कि चौहान जी प्रगतिवाद को सम्पूर्ण साहित्यिक संपदाओं और आभूषणों से सुसज्जित देखना चाहते हैं, पर डा० शर्मा उसकी साज सज्जावाद से पहले उसके कार्य का फल चाहते हैं। एक तत्व की कमी रहते हुए भी, शर्मा शीघ्र उसे पाना चाहते हैं, जो उन्हें चाहिये, शिवदान जी उसे साहित्यिक क्रियाओं के विकास के साथ प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु आज जनता विकास के लिये नहीं ठहर सकती है—आज उसके लिये 'evolution' से अधिक Revolution' की आवश्यकता है। आलोचक आज अपने विचार उस पर लाद दे तो दूसरी बात है पर वह चाहेगा वही जो युग उसे चाहने को कहता है। अवश्य डा० शर्मा ने जमाने की नब्ज को पहचानने का प्रयास किया है। मुझे आशा है कि भविष्य में भी वे ऐसा कर सकेंगे। हाँ, यह भी मैं मानने से इन्कार नहीं कर सकता अपने दृष्टिकोण की धारा में डा० शर्मा अकेले हैं, हालांकि उनका पक्ष युग ग्रहण करेगा। मुझे इस सम्बन्ध में एक बड़ी शिकायत भी प्रगतिवादियों से करनी है—कि आज वे अपने ही संगठन की बात, जिसके लिये उन्होंने अपना आन्दोलन चलाया, छोड़कर ऊपर-ऊपर प्रगतिवाद के कलापक्ष पर विशेष जोर देने लग गये हैं, इसलिये बहुत सारी परिस्थितियाँ पकड़ में नहीं आ रही हैं। विहार एवं देश के अन्य अञ्चल में फैले विशाल जनवादी कलाकारों की समस्याओं और उनकी बढ़ी हुई ताकत को आगे बढ़कर कोई भी केन्द्रीय आलोचक अभिनन्दन करने के लिये तैयार नहीं हैं। 'नागार्जुन' प्रभृति कलाकार विहार की परिस्थितियों एवं कलाकारों से परिचित हैं, उन्हें भी इस दिशा में ठोस कदम उठाना चाहिये। उन्हें बिहार का मोर्चा संभालना चाहिये। आज समय आ गया है, जब बिहार के कवियों को किसानों, मजदूरों और गरीब जनता के साथ स्वर मिला कर गाना होगा। कलाकारों को उनके बीच रहकर उन्हें मानव आत्मा का शिल्पी बनकर मानवता का नियामिक बनाना होगा। भागलपुर, सहरसा, मुंगेर जिलों में बढ़े हुए किसानों

के संघर्ष और उनकी जीत पर कविताएँ लिखी जाँय, उनके बीच रहकर रिपोतार्ज लिखे जाँय जो साथी खेत आते हैं या जहाँ किसानों की जीत होती है, उस पर खंड काव्य और प्रबन्ध-काव्य लिखे जाँय। नये कलाकार यह सब करने के लिये तैयार हैं—पर उन्हें जब अनुभवी लोगों द्वारा दृष्टिकोण मिलेगा तभी तो वे आगे बढ़ेंगे। अगर प्रगतिशील साहित्यकार ऐसा नहीं करते तो वे अपने उत्तरदायित्व से विमुख हैं।

वृद्ध रूढ़िवादी आलोचकों से तो खैर कोई आशा रखनी ही नहीं चाहिये पहले भी नहीं थी, पर प्रगतिवादी आलोचकों ने भी उनको त्याग दिया है। मैं यह नहीं कहता कि इन विशाल जनवादी कलाकारों की केवल पीठ थपथपायी जाय, वरन् उन्हें सुदृढ़ दिशा और आलोचना के माध्यम से craft को ऊँचा उठाने की भी सीख देनी चाहिये। नये कलाकार जिनका नाम किसी भी प्रकार यहाँ देना शोभनीय नहीं, क्यों कि उन्हें बाहर कोई भी नहीं जानता, उनकी कम ही रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं पर जिनकी संख्या अधिक है, अपने आस-पास के जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर रहे हैं—उनकी अनुभूति में उतनी ही सचाई है जितनी सचाई किसी भी उच्चकोटि की रचनाओं में है। पर इनके पास वे साधन नहीं जिनके द्वारा वे आगे बढ़कर अपना प्रचार कर सकें। इनकी कुछ कविताएँ सामयिक होने से सस्ती अवश्य हैं, पर कहीं-कहीं उसमें स्वाभाविक अभिव्यक्ति इतनी गहरी है कि वही साहित्य का एक सुन्दर उदाहरण बन जाती है। पर इसे दिल्ली, वाराणसी, प्रयाग और पटना के साहित्यिक प्रांगण में बैठ कर नहीं देखा जा सकता। इसका परिचय देश के विभिन्न शहरों में घूमकर प्राप्त किया जा सकता है। इस दिशा में अवश्य आज के प्रगतिवादी आलोचक कुछ करें तो अच्छा! कलाकारों की यह संख्या प्रगतिशील अधिक हैं, और इनका पोषण आज छोटी-छोटी गोष्ठियों में हो रहा है। ये कलाकार समय आने पर न केवल अपनी लेखनी से युग का साथ देंगे बल्कि ये आवश्यकता पड़ने पर तलवार भी अपने हाथ में ले सकते हैं, पर बड़े कलाकार शायद ही युग का इतनी इमानदारी से साथ देंगे। फलतः इन कलाकारों की रचना प्रणाली को समझते हुए एक भिन्न आलोचना सिद्धान्त की भी आवश्यकता है, जिसका मेल कुछ-कुछ डा० शर्मा की सीधी सादी आलोचना से आसानी से हो जाता है। इनके लिये न

तो रीति-काव्य के जकड़े हुए नियम काम करेंगे और न "मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र" का गूढ़ कलात्मक सिद्धान्त ही ये समझ पायेंगे। अगर आलोचक जबरदस्ती इन पर इस प्रकार की बात लादेंगे तो मायूसी उत्पन्न होगी, फलतः कलाकार एक कुंठित मार्ग पकड़ेगा जिसकी चरम परिणति मनोवैज्ञानिक कुंठाओं में होती है। मैंने देखा है कि अच्छे अच्छे साहित्यकार आज या तो मायूसी से, या पैसों के लिये अथवा अपने वर्ग द्वारा (जिस वर्ग का वे होना चाहते हैं) पूर्ण सहयोग प्राप्त करने पर विचित्र मार्ग का अनुसरण कर चुके हैं। कुछ ने उपन्यास साहित्य में 'कांत' प्रणाली को अपनाया है, क्योंकि वहाँ उन्हें प्रकाशन की असुविधा नहीं, पैसे भी मिलते ही हैं। कुछ ने प्रयोगवादियों की प्रणाली को अपनाया है—पर सच्चे मानी में कम ही कलाकार युग-सापेक्ष-रचना कर पाते हैं। हालाँकि प्रारंभ में इनका दृष्टिकोण उसी ओर था जिसे (Gwile) करने से कुछ तो फल की प्राप्ति होती ही।

इस संबंध में मुझे डा० शर्मा की एक बात दुहरानी है और स्वयं शर्मा प्रभृति प्रगतिवादी आलोचकों से पुनः उसे काफी सतर्कता से अमल में लाने का अनुरोध भी करना है—डा० शर्मा ने १९४२ में लिखा था—

"हिन्दी लेखक की परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो उसे हठात् पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी बना देती हैं। जो पूँजीवाद या साम्राज्यवाद की खुशामद करे, उन्हें स्थायी बनाने में मदद करे, प्रगति के मार्ग में काँटे बिछाये, वह देश का शत्रु है और हिन्दी का शत्रु है, धर्म और संस्कृति के नाम पर जनता का गला घोंट कर वह पूँजीवाद के दानव को मोटा करना चाहता है। उससे लेखकों और पाठकों को सावधान रहना चाहिये।"

आज जिस प्रकार प्रतिक्रियाशील शक्तियाँ नये साहित्यकारों की हड्डियाँ चूस रही हैं—उस अवस्था में एक के लिये (नये कलाकार के लिये) जीवित रहना क्या संभव है? आज तो जब तक हमारा एक ठोस जनवादी सङ्गठन न होगा, हम आगे नहीं बढ़ पायेंगे। प्रगतिशील आलोचकों को आगे बढ़कर इन कलाकारों की सारी समस्याओं को समझ कर कुछ करना है। ये प्रतिक्रियाशील शक्तियाँ न केवल राजनीतिक

और सामाजिक क्षेत्र में काम कर रही हैं वरन् साहित्य में भी उनकी एक सशक्त शक्ति काम करती जा रही है। आप बिहार की ही बात लें—वृद्ध साहित्यकारों का दल आज नयी पीढ़ी के विकास को किसी भी प्रकार मान्यता देने के लिये तैयार नहीं है; वह उन्हें बढ़ावा नहीं देता, डिसकरेज (discourage) करता और भ्रान्त बतलाता है, उसे कुछ पैसे देकर किताबें लिखा अपने नामों से छपवाता है, घटिया पुस्तकों को पाठ्यक्रम तथा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत करवाता है, नये कलाकारों की पुस्तकों को घटिया, एवं प्रचार कह कर "रिजेक्ट" कर देता है।

इस साहित्यिक प्रतिक्रियाशील शक्तियों की एक जमात पत्रकार—साहित्यकारों के बीच है ? इन्होंने तो साहित्य को सबसे अधिक हानि पहुँचायी है। कमसे कम बिहार का साहित्यिक जागरण इनके कारण ही spoil हो रहा है। बिहार के जितने पत्रकार हैं सभी अपने को आलोचक, निबन्धकार, कवि–कहानीकार इत्यादि-इत्यादि समझते हैं। पर शायद ही उनकी चीजें बिहार के बाहर ख्याति प्राप्त कर सकी है। यह गुट बिहार के अञ्चल में फैले विशाल जनवादी साहित्यकारों की चीजों का बिना मूल्यांकन किये निरादर करता है। हालांकि मूल्याकंन करने की क्षमता भी उनमें नहीं होती। अगर आप कहें तो मैं उन साहित्यिक पत्रकारों का नाम भी और प्रमाण भी आप को बतला सकता हूँ। फलतः बिहार का सहित्य आज पटना की गलियों में सिसक रहा है और उनके भाग्य का फैसला वे 'सम्पादक' करते हैं जो 'नागार्जुन' के शब्दों में "या तो अयोग्य हैं या फिर मिहनत चोर" फलतः नव युवक कलाकार गुमराह होते हैं। इस पंक्ति के लेखक को एक ऐसे ही गुमराह कवि ने निम्न लिखित पत्र दिया था—

"नया पथ" में प्रकाशनार्थ ली गई कविता का करेक्सन देखा। ठीक है, आपकी कलम की प्रतिष्ठा सिर आँखों पर.............और मैं खामख्वाह 'कम्युनिष्ट' बनना पसन्द नहीं करता। 'नया पथ' में आपके लिखने से कुछ चस्का लगा। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं "कम्युनिष्ट" बनूँ।..........अभी हमें श्री बाबू*, नंद कुमार बाबू एवं अन्य सुहृद-

---

* श्री बाबू एवं नन्द कुमार बाबू क्रमशः बिहार-राज्य के मुख्य मंत्री एवं प्रदेश काँग्रेस के अध्यक्ष हैं।

वरों का सम्बल लेना है। "नया पथ" को श्री बाबू आद्योपान्त पढ़ते हैं। नज़र में बुरा हो जाँऊ, पसन्द नहीं।

हाँ, इस सुधार पर कविता यदि "नया पथ" में अपेक्षित हो तो मैं सहर्ष प्रस्तुत हूँ।"

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट ध्वनि आती है कि किस प्रकार आज के अधिकांश नवयुवक कलाकारों की नीति अवसरवादी नीति हो रही है। किस प्रकार वह कम्युनिष्ट भी नहीं बनना चाहता है पर कम्युनिष्टों के हौवे को प्रचारित करते हुए अपनी अहम्मन्यता प्रदर्शित करता है। वैसे पत्रों में अपनी कविताएँ प्रकाशित कराने के लिये स्वयं सिफारिश भी कराता है तथा अपनी रचनाओं में सिद्धान्तोनुकूल आवश्यक परिवर्तन भी कर देना चाहता है।

आज अधिकतर साहित्यकार ऐसा करते नहीं वे अभावों में रहते हैं पर उस शक्तिको पहचानने की कोशिश नहीं करते जो उन्हें अभावों की ओर खींचती जा रही है। इसलिये साहित्य में गलतफहमियाँ बढ़ रही हैं विशेष कर बड़े बड़े साहित्यकार इन गलतफहमियों को बढ़ाते हैं मैं तो पत्र पत्रिकाओं में ऐसी उल्टी सीधीं बातें देखता हूँ तो जी जल जाता है। इच्छा होती है कि उनके शब्द शब्द का उत्तर दूँ लेकिन मजबूरी है रोजी रोटी की समस्या है, समय और जीवन की पाबन्दी है, पत्र संपादकों एवं प्रकाशकों की अकृपा है। दिल्ली में ही बहुत सारे साहित्यकार हैं जो यदा-कदा एक दूसरी प्रतिक्रियाशील शक्तियों को बल पहुँचाते रहते हैं—शिव दान सिंह को 'आलोचना' से निकाल दिया गया आज एक दूसरा साहित्यिक दल वहाँ स्थापित है, वह शिवदान सिंह एवं उनकी मजबूरियों को कहाँ से देखता वरन् उसके साहित्य की पुनः आलोचना कर उन्हें गलत साबित कर रहा है (इस संबंध में काफी सत्य एवं सुलझा हुआ विचार 'नया पथ' के अनुभवी सम्पादक श्री शिव वर्मा ने 'नया पथ' के मार्च १९५५ के सम्पादकीय में व्यक्त किया है) इससे पाठकों में भ्रांति फैलती है। फलतः साहित्य विकृत होगा और जो जनवादी लेखक विश्वास के साथ लिखते हैं उन्हें कम्युनिष्ट कहा जाता है, इस आशय का कई पत्र मेरे पास आया किन्तु मैं मूर्ख (यह शब्द मैं प्रयोग में नहीं लाना चाहता था साहित्यकारों को कभी मानता नहीं, मैं जानता हूँ किसमें कितनी माद्दा है। आज जिस भयंकर रूप में कलाकारों पर नृशंस

प्रहार हो रहा है उसे भुलाकर अगर कोई कलाकार मात्र कला की खाल ओढ़कर परिस्थितियों से अपने को बचाता फिरे तो उसे क्या कहा जाय प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद 'जैनेन्द्र' और 'अज्ञेय' ऐसे प्रतिभा शाली ? लेखकों ने भी कभी क्या प्रेमचन्द की परम्परा को ग्रहण किया ? और जब नागार्जुन ऐसे साहित्यकार प्रेमचन्द की परम्परा के प्रमुख हस्ताक्षर बन गये हैं तो उन्हें प्रचारवादी कहा जाता है। माना कि वह प्रचार ही हो, किन्तु अभी जिस बात की आवश्यकता देश को है, अभी जिस निर्माण का प्रश्न कलाकार की सुलझना है उसके लिये पहली आवश्यकता प्रचार की ही है। महल जब बन जाता है तभी तो पच्चीकारी की जाती है। बिना पच्चीकारी के भी महल की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है पहले महल तो बन ही जाने दें फिर कभी पच्चीकारी हो जायगी।

भाषा का प्रश्न भी है। (जनपदीय भाषाओं और भाषावार प्रान्त को अगर राजनीतिक प्रश्न कहकर छोड़ दिया जाय तो भी) साहित्यिक दृष्टिकोण से भाषा के प्रश्न को ठुकराना कठिन है। आज जब इस प्रश्न पर सतही तौर पर फैसला देना है। डा० शर्मा ने हाल ही में मैथिली के सम्बन्ध में जो फैसला दिया है—वह काफी विवादास्पद एवं वस्तु स्थिति से दूर है (इस संबध में देखें 'पाटल-'मार्च'—अंक—डा० शर्मा का लेख मैथिली और हिन्दी)। डा० शर्मा ने मैथिली की आत्मा को अगर सच पूछा जाय तो निकट से देखा नहीं है। अगर उन्हें देखने का मौका मिलता या मिले तो वे अपना फैसला बदल सकते हैं पर मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि मैथिली को लेकर एक झगड़ा पैदा किया जाय! मेरे कहने का इतना ही मतलब है कि जो जैसा है उसे वैसा ही कहा जाय। और यह ईमानदारी हमसे मांग करती है—मिहनत ! हम जिस भाषा के सम्बन्ध में लिखें, उस के बीच जाँय, उसकी समस्या और साहित्य को समझें तभी अपना निर्णय भी दें। फिर भी वह अन्तिम निर्णय नहीं होगा, क्योंकि अन्तिम निर्णय उस भाषा के बोलने वाले ही दे सकते हैं, क्योंकि उनकी आत्मा उस भाषा के रस से भींगी है, वे उसके महत्व को डा० ग्रियर्सन और डा० शर्मा से ज्यादा समझा सकते हैं। नागार्जुन और जयकान्त मिश्र पर मैथिली भाषा-भाषी होने का आरोप लगाते हुए भी यह तो मानना ही होगा कि वे और लोगों से ज्यादा मैथिली

को समझते हैं। भाषा के प्रश्न पर विचार करने का कार्य-क्रम श्री शिवदान सिंह ने अपने 'प्रगतिवाद' नामक पुस्तक में बनाया था लेकिन ऐसा लगता है कि वह सब कुछ कार्यक्रम मात्र ही रह गया—काफी खोज पूर्ण ढंग से उस पर विचार नहीं होता है।

अंत में पुनः निवेदन कर दूँ कि मैं कोई आलोचक नहीं, लेखक नहीं इतनी सारी बातें साहित्य का एक पाठक होने के नाते कह गया—आलोचक होकर तो कहना बड़ा कठिन था। अध्ययन के सिलसिले में रचे गये इन निबन्धों को प्रकाशित कराने का लोभ मैं संवरण न कर सका इसलिए इन्हें प्रकाशित कराना भी आवश्यक हो गया। अवश्य कहीं कहीं इन निबंधों में अध्येता पाठक का कच्चापन भी साफ नजर आयेगा, लेकिन मैं फिर भी कहूँगा मैं कोई आलोचक नहीं। आलोचक रहता तो इतना नहीं मानता।

———

हिन्दी उपन्यास साहित्य

आज का हिन्दी उपन्यास कुंठाओं से आक्रान्त अपने आप में घुमड़ रहा है, जैसे किसी कमरे में बहुत अधिक मात्रा में धुआँ एकत्रित हो। ये कुंठाएँ आज साहित्य की सभी प्रवृत्तियों में समा सी गयी हैं, मानो कोई घुन हो जो नित्य साहित्य को बल हीन बना रहा है। इसका प्रमाण अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र और कुछ माने में अश्क का साहित्य है। प्रकाशचन्द गुप्त ने लिखा था—"आज कल अनेक प्रतिष्ठित उपन्यासकार केवल एक पात्र का निर्माण करना जानते हैं, जो वे स्वयं ही हैं। और उसकी फिर फिर पुनरावृत्ति करते हैं। 'भुवन' (नदी के द्वीप में) 'शेखर' का ही दूसरा रूप है 'गर्म राख' का नायक 'चेतन' का प्रति रूप है और 'सुखदा' एवं विवर्त 'सुनीता का'।

इस प्रश्न को यह कह कर भी नहीं छोड़ा जा सकता कि यह कुछ लेखकों का गतिरोध है जो सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का गतिरोध नहीं हो सकता, क्योंकि उपर्युक्त लेखक महान उपन्यासकार अगर नहीं है तो कम से कम हिन्दी साहित्य के स्तंभ तो माने ही जाते हैं निर्विवाद रूपसे इनका गतिरोध हिन्दी साहित्य का गतिरोध है।

कुछ आलोचक धारा विशेष की साहित्यिक मान्यताओं के परिवर्तन की आत्म-आलोचना को एवं कुछ के व्यक्तिगत मानसिक दशा के चित्रण को गतिरोध कह कर पुकारते हैं जैसा कि प्रगतिवाद के साथ हुआ है। (प्रगतिवादी लेखक अमृतराय इत्यादि ने स्वयं प्रगतिवाद का पर्दा फाश किया) किन्तु इतने गतिरोध के बावजूद भी प्रगतिवादी साहित्य (चाहे वह साहित्य प्रचार के नाम पर ही क्यों न रचा गया हो) गतिरोध के उपर्युक्त विन्दुओं पर खरा नहीं उतरता ! दर असल उसकी रचनाओं में तो गतिरोध नहीं है, गतिरोध अगर माना जाय तो वह है प्रगतिशील लेखकों का अधिकाधिक एकगुट का जनवादी संगठन न होना, जिसकी ओर प्रगतिवाद ने कदम उठाया था और जिसके लिए आज आत्म-आलोचना की आवश्यकता आ पड़ी है। दूसरे वर्ग का कथा साहित्य तो अपने व्यक्तिगत मानसिक चित्रणों के लिए प्रमुख है

ही जो साहित्य को आगे नहीं बढ़ाता। इलाचन्द्र के उपन्यास फ्रायडवादी मनोविज्ञान की फ़ैक्टरी में बनकर नित्य नये-नये नामों द्वारा प्रचारित कराये जा रहे हैं। इन उपन्यासों में कोई सुदृढ़ लक्ष्य या जीवन दर्शन नहीं है जब कि कथा साहित्य की पहली शर्त ही है—"कथा साहित्य हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की समस्याओं को परस्पर समाज संबंधों में पड़ कर जीवन बिताने के माध्यम से हल करने का एक विशेष प्रकार का कलात्मक रूप विधान है।"

(शिवदान सिंह)

एक वर्ग इन दोनों वर्ग से अलग अपनी डफली अपना राग की नीति अपना कर अपने को श्रेष्ठ बताना चाहता है। यह वह वर्ग है जो अपने को सन् ४२ की क्रान्ति का ध्वंसावशेष समझता है और जिसके सामने आजकी आजादी तो सच है ही साथ ही भारत का कल्याण वे गांधी-विनोबा की वैष्णव राजनीति में ढूँढ़ते हैं और अन्य राजनीति-समर्थित धारा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। किंतु 'म्युज़िक कंसर्ट' की तरह उनकी आवाज़ में एक सूत्रता नहीं और न उसकी आवश्यकता ही वे समझते हैं। परन्तु क्या आवाज़ की एक सूत्रता नहीं होने से संगीत लयहीन, स्वरहीन नहीं जान पड़ेगा! इसे तो हम गतिरोध ही कह सकते हैं।

कुछ ऐतिहासिक उपन्यास (Historical romance) भी लिखे गये हैं। किंतु इन उपन्यासों में भी लक्ष्य भ्रष्टता का दोष कुछ कम नहीं। ऐतिहासिक उपन्यास को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रख कर वर्तमान जीवन को देखना चाहिए। क्योंकि "मनुष्य के पिछड़े हुए आधार-विचारों और बढ़ती हुई यथार्थताओं के बीच निरन्तर उत्पन्न होती रहने वाली खाई को पाटना ही उपन्यास का कर्तव्य है।" रांगेय राघव का प्रयास इस दिशा में सराहनीय है। पर वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास इस मानी में कमजोर पड़ते हैं इसलिए इस धारा को भी गतिरोध से मुक्त नहीं कहा जा सकता।

यथार्थवादी उपन्यासों को भी देखकर पूर्ण संतोष नहीं किया जा सकता, क्योंकि "हमारे देशके उपन्यासों में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है, किंतु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है—अर्थात् आगे बढ़े हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों, से चिपटी हुई आचार-परंपरा

इन दोनों के व्यवधान को पाटते रहने का निरन्तर प्रयत्न—वह कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा। दुर्भाग्यवश अपने देश के कम लेखकों ने इस व्यवधान के स्वरूप को समझने का प्रयास किया है।"

(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)

कथा साहित्य के संबंध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि प्रेमचन्द की परम्परा क्या बढ़ी है! क्या प्रेमचन्द जन्म ले सके! इसका उत्तर तो नकारात्मक ही आज दस सालों से दिया जा रहा है। "प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारों ने जीवन के नये अंश छुए जरूर किंतु प्रेमचन्द की कला में जो एपिक गुण था, वह उनके परवर्ती कथाकारों में नहीं है।" जहाँ तक गांधी और विनोवावादी धास की बात है, उसका साहित्य भी हमारे सामने अभी उभर कर नहीं आया जिसके आधार पर हम गतिरोध का खंडन कर सकें।

कुछ दृष्टि से, एक तो भाषा की दृष्टि से दूसरे कुछ नवीन भावों की दृष्टि से हम गतिरोध न मानें किंतु क्या आज भाषा हमारे जीवन को निर्माण दे सकती है, जब आज समस्या, संघर्ष और शान्ति का युग समाधान माँग रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के शब्दों में आज "भाव अनूठो चाहिये, भाषा कोऊ होय" किंतु आज निर्माण और चेतना को छोड़कर कुछ लेखकों को भाषा की ही सूझी है जो पतनशीलता का परिचायक है। जान स्ट्रेची ने लिखा है—"अस्तकालीन साहित्य में संध्या का रूप और सौन्दर्य होता है।" शायद इसीलिये अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए आज के आलोचक कहते हैं—'हमारा झुटपुटा प्रभात का है, संध्या का नहीं।" प्रभात का झुटपुटा रहता तो अवश्य सूर्य की लालिमा भी दिखाई पड़ती किंतु ऐसी बात नहीं है अंधकार बढ़ रहा है। अमावस्या सी काली रात के बाद ही प्रभात आयेगा। सभी साहित्य, देश और विचारों की यही प्रक्रिया है।

भाव के अभाव में भाषा और शैली का एक प्रकार से (exploitation) दुरुपयोग अभी कम नहीं हो रहा है।

कुछ आलोचकों का यह भी मत है कि आज वस्तुतः जिस अर्थ में उपन्यास साहित्य में गतिरोध लोग मानते हैं, वह है नहीं। वह इस लिये नहीं है कि आज के जीवन को उस समग्रता से देखा नहीं जा सकता जैसी समग्रता के साथ प्रेमचन्द युग में देखा जा सकता था क्योंकि आज जीवन में कई श्रेणियाँ हो गई हैं, विभाग हो गये हैं, जो अपने

आप में स्वतंत्र हैं जो अलग अलग उपन्यासों का विषय हो सकता है। किंतु यह तर्क उपन्यास के लिए फिट नहीं बैठता। उपन्यास की पहली शर्त है जीवन को समग्रता में देखना। वहां जीवन की totality हो, अगर हम ऐसा नहीं देखते तो वास्तव में वह प्रतिभा का दिवाला ही समझा जायगा। प्रतिभा अगर परिस्थिति को ग्रहण कर नूतन कला कृति न दे सके तो वह प्रतिभा का विशिष्ट उदाहरण नहीं माना जा सकता। और दूसरा उत्तर यह होगा भी कि जीवन को खण्ड रूप में तो कहानियों में देखा जाता है। वस्तुतः आज का उपन्यास कहानी का विकसित रूप (developed form) ही है। 'नदी के द्वीप' की कहानी कुछ शब्दों में व्यक्त की जा सकती है। 'सुखदा' 'विवर्त' 'और' 'व्यतीत' का कथानक कुछ पृष्ठों में लिखा जा सकता है।

आज हिन्दी में एक भी ऐसी प्रतिभा नहीं है जो जीवन के विस्तृत फैलाव को ग्रहण कर सके। नागार्जुन तथा सुधाकर पाण्डेय ने* प्रेमचन्द की परंपरा में अवश्य हस्ताक्षर किये हैं, पर उनका स्थान अभी संदिग्ध है (कम से कम अप्रगतिवादी आलोचकों की नज़रों में)। समग्ररूप से तब यही कहा जा सकता है कि आज साहित्य में गतिरोध है।

इतनी व्याख्या के बाद साधारणतया एक प्रश्न उठ खड़ा होता है, होना भी चाहिए, कि गतिरोध आखिर इस समय ही साहित्य में क्यों आ गया है! समकालीन परिस्थिति को देखते हुए केवल यही कहना होगा कि आज कलाकार कोई ऐसा मार्ग नहीं पा रहा जिस पर उसे पूर्ण आस्था हो। दिनकर ने एक बार बड़ी अच्छी सी बात कह दी थी कि आज गांधीवाद और मार्क्सवाद की सीमा पर खड़ा भारत सोच रहा है कि वह किधर जाय। पं० उदयशंकर भट्ट प्रभृति लेखक भी एक असमंजस (dilema) में है। उन्हें वर्ग-हीन समाज की स्थापना एवं उसके भविष्य पर आस्था नहीं। कतिपय लेखक व्यक्तिगत मनोविज्ञान द्वारा आज की समस्या का समाधान खोज रहे हैं जिस प्रकार योरप में समाधान खोजा जा रहा है। परन्तु कलाकार समाधान खोजने के पहले इस बात की खोज नहीं करता कि आखिर क्यों ये समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं! क्यों आज मनुष्य में कुंठाओं का सृजन हो रहा है, इत्यादि! निस्संदेह अगर कलाकार इन बातों को सोचे तो गतिरोध इस वर्ग के

---

* सुधाकर पाण्डेय का नवप्रकाशित उपन्यास 'साँझ सकारे' देखिये।

लिये भी न रह जाय। क्योंकि हमारे यहां की कुंठाएँ मनोवैज्ञानिक कम, आर्थिक अधिक हैं, और आर्थिक कुंठाओं की रोशनी में मनोवैज्ञानिक कलाकार मनुष्य का आकलन नहीं करते बल्कि प्रगतिवादी कलाकार जब मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, संघर्षात्मक-कुंठाओं के आधार पर व्यक्ति की मानसिक दशा का चित्रण करता है तब उसे मनोविज्ञानवादी भ्रम-वश फ्रायडवाद और मार्क्सवाद का समन्वय कह देते हैं। यशपाल की उपन्यास कला के सम्बन्ध में कुछ लोगों में यही भ्रम है।

गतिरोध के यही प्रमुख विन्दु हैं। अगर इन्हें सुलझा कर कलाकार अपने मस्तिष्क का स्थिरीकरण करे तो अवश्य साहित्य में गतिरोध की सम्भावनाएँ नहीं रहेंगी।

१९५३]

नये औपन्यासिक मूल्य

हिन्दी उपन्यास साहित्य के सम्बन्ध में आज विभिन्न प्रकार की धारणाएं आलोचक रखते हैं, और यह दोषारोपण करते हैं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य गत्यविरोध की स्थिति में हैं। उसका परिवेश निराशावादी कुण्ठित दर्शन एवं विचारों से घिरा रहता है। उसके कथानक और चरित्रलेखक मानसिक सृष्टि होने के साथ-साथ पुनरावृत्ति के दोष से आक्रान्त हैं। उसका स्थापत्य और उसकी व्यवस्था प्रेमचन्द युग से नहीं आगे बढ़ पायी है। ऐसी वृत्तियों में मनोविश्लेषण और यथार्थ के नाम पर मनुष्य की दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त ऐसी कृतियों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को स्थान मिलता है जो साहित्य का सार्वजनीन सत्य नहीं। आलोचकों की राय में ये केवल काल्पनिक विश्व के निर्माण की खामख्याली चेष्टा करते हैं और दार्शनिक रहस्यात्मकता द्वारा सामाजिक सुधार की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं को छिपाते हैं, क्योंकि इनके सामने नवीन सामाजिक विकाश की रूप रेखा स्पष्ट नहीं। नारी मात्र का एक ही रूप, कुण्ठित, अतृप्त, विकल और करुणा की पुनरावृत्ति। जैनेन्द्र के दार्शनिक आधार के सम्बन्ध में एक बार लिखते हुए एक आलोचक ने कहा था—"कतिपय मनोविश्लेषक यह कहते हैं कि जैनेन्द्र कुमार ने जिस प्रकार की सामाजिक आधार रहित साहित्य सृष्टि की है उसके मूल में स्वयं लेखक की पलायन वृत्ति, दुखवादी (Sadistic) धारणा और अतृप्त वासना काम करती है यह कहा जा सकता है कि इस पलायनवादी वृत्ति को जैनेन्द्र ने एक दार्शनिक आवरण दे रखा है।"

प्रेमचन्द के बाद बहुत से श्रेष्ठ उपन्यासकार सामने आये, जिसमें जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, अश्क, अनूपलाल मंडल, अमृतराय, उग्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, देवराज, धर्मवीर भारती इत्यादि प्रमुख हैं। इन कथाकारों की भावभूमि और चारित्रिक विश्लेषण में कुछ सैद्धान्तिक अन्तर के अलावा कोई विशेष परिवर्तन बंगला के औपन्यासिक कृतित्व से तुलना करने पर दिखाई

नहीं पड़ता। बङ्गला के अधिकांश कथानक की मूलधारा हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों का भी आधार बनी। कथाशिल्प जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी प्रभृत लेखकों का शरत् के इर्द-गिर्द ही दौड़ता रहा है। शरत् के पात्रों एवं उपन्यासों की करुणा हिन्दी उपन्यासों पर अब भी हावी है। यशपाल और अमृतराय ऐसे साम्यवादी लेखक भी मानव के पर्यवेक्षण में शरत् और रविन्द्र से अधिक नहीं आगे आ पाये, युग और व्यक्ति के सिद्धान्त की बात मैं यहाँ नहीं करता मौलिकता अगर मानी ही जाय तो वह है व्यक्तिवाद की उद्दाम विस्फोट, जो 'नदी के द्वीप' और 'सुनीता' के रूप में नग्नता का पर्यायवाची सिद्ध हो जाता है। इसीलिए हिन्दी उपन्यासकार होने से ये भले ही हिन्दी साहित्य की जमीन पाट दें, पाठकों की जमीन ये नहीं पाट सकते। आज भी शरत् एवं बङ्गला के उपन्यासकारों से अधिक हिन्दी. के उपन्यासकार (प्रेमचन्द को छोड़कर) नहीं पढ़े जाते। आधुनिक सभी उपन्यासकार करीब-करीब जैनेन्द्र से प्रभावित हैं। वातावरण एवं अभिव्यक्ति का माध्यम सबों का करीब-करीब एक सा ही हो जाता है।

किसी-किसी में अपना जो है वह उनमें बोलता है कि पाप किसे कहते हैं—"चित्रलेखा का वीजगुप्त और वह साधक महात्मा भी तो निर्दोष था। मनुष्य था—और मनुष्य और उसकी मनुष्यता दोषों का भाण्डार हुआ करती है। लेकिन इतना सच कौन मानता है, पत्रों के बुद्धिजीवी सम्पादक भी क्या मान पाते हैं। कहते हैं कि पत्र की नीति अनुमति नहीं देती ऐसी कहानी छापने की। फिर किरणमयी (चरित्रहीन) बन कर शेष प्रश्न भी वह कोई है, स्मरण नहीं और जैनेन्द्र की नारी का क्या होगा? युरोपिया में अन्त क्या? इनका मानव शेक्सहीन रामराज्य के आदर्श की ओर जो बढ़ रहा है। तर्क तो बढ़ता है शब्दों का घरौंदा, शहरों की गोद में दुनिया का स्वप्न बुद्धि-जीवी बौद्धिकता से तो होगा ही। इसीलिए सुनता हूँ Creative artist आलोचनाएँ न लिखते न पढ़ते, बुद्धि जो Critical हो जायगी, उनकी चेतना पर भार जो पड़ जायगा।

पर इनकी बुद्धि भी Critical है इसीलिए जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र किसी को पकड़ते तो नहीं पकड़ा जाते हैं जब कि उनका बौद्धिक तर्क जिद्द हो जाता है—अति यथार्थवाद या मनोवैज्ञानिक तथ्य तो क्या होगा? वह किसी को दे सकता है—पर क्या यह

सभी नहीं जानते। जानने से क्या ? जैनेन्द्र का अपना विचार और अपना परिवेश जो है शायद उसमें उन्हें विश्वास भी है। उनका जो युग आ रहा है उसका नायक ऐसा ही तो है—"लेकिन जहाँ होता है वहाँ वह आदमी नहीं होता। अभाव में होकर ऐश्वर्य में जान पड़ता है और ऐश्वर्य में होकर मुशीबत में। स्त्री पास होती है तो मानो स्त्री अपने को सागरों दूर अनुभव करती है पर दूर होती है तो अनुभूति पाती है कि वह उसके बश में है दूर बिल्कुल भी नहीं।"

और अन्त में तो शायद इन उपन्यासों में कुछ का विनाश ही होता है विकाश नहीं। कुछ जो बचते हैं अपनी जगह लौट जाते हैं मानो एक लम्बी यात्रा के बाद अपने घर लौट आये हों पाठक केवल एक करुण भावना से दूसरी करुण भावना में जाते हैं। क्रमागत सामाजिक मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों का निदर्शन नहीं होता। छोटी सूई भी चुभने से हम रास्ता देखकर चलने नहीं लग जाते बल्कि उसकी वेदना के थाह को जानने से और अधिक लापरवाह हो जाते हैं। जो ले जाता है निराशा के गह्वर में कोई गहरा स्वप्न प्रकाश तो नहीं मिलता, फिर क्रान्ति क्या खाक होगी! सुधार भी क्या होगा जो होना चाहिये आपेक्षित है लेकिन अपेक्षित जैनेन्द्र छूते नहीं, सिद्धान्त जो एक है इनका—"अपने भाव में ही सफलता मिलेगी स्यात् इसीलिये प्रकाशचन्द्र गुप्त ने आज से दस साल पूर्व लिखा था—क्या जैनेन्द्र जी के विचार भी फैलेंगे या वे अपनी बात दुहराने लगेंगे। दूसरे शब्दों में क्या उपन्यास आपके लिए प्रश्नोत्तर का एक व्याज रूप तो नहीं हो जायगा। कल्याणी में इसकी एक चिन्तनीय झलक है। इन समताओं के संतोषप्रद समाधान पर हिन्दी उपन्यास के प्रगति का एक बड़ा अंग निर्भर करता है।"

द्वितीय विश्वयुद्ध; विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी उपन्यास में कुछ नये विचारों एवं नयी उत्क्रान्ति का चिन्ह परिलक्षित होने लग गया था। गत तीन-चार वर्षों में उस उदय उत्क्रान्ति ने एक सुस्थिर दिशा की ओर कदम बढ़ाया, जो निसंदेह हिन्दी उपासना के लिए शुभ प्रतीत हुआ, और यह भी एक आश्चर्य एवं गौरव की बात है कि जब प्रेमचन्द एवं प्रेमचन्द परम्परा की स्थापना की मांग पुनः आलोचक एक स्वर से कर रहे थे उसी समय आंशिक रूप से प्रेमचन्द की सी प्रतिभा नागार्जुन के रूप में हिन्दी में आयी। नागार्जुन के औप-

नहीं पड़ता। बङ्गला के अधिकांश कथानक की मूलधारा हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों का भी आधार बनी। कथाशिल्प जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी प्रभृत लेखकों का शरत् के इर्द-गिर्द ही दौड़ता रहा है। शरत् के पात्रों एवं उपन्यासों की करुणा हिन्दी उपन्यासों पर अब भी हावी है। यशपाल और अमृतराय ऐसे साम्यवादी लेखक भी मानव के पर्यवेक्षण में शरत् और रविन्द्र से अधिक नहीं आगे आ पाये, युग और व्यक्ति के सिद्धान्त की बात मैं यहाँ नहीं करता मौलिकता अगर मानी ही जाय तो वह है व्यक्तिवाद की उद्दाम विस्फोट, जो 'नदी के द्वीप' और 'सुनीता' के रूप में नग्नता का पर्यायवाची सिद्ध हो जाता है। इसीलिए हिन्दी उपन्यासकार होने से ये भले ही हिन्दी साहित्य की जमीन पाट दें, पाठकों की जमीन ये नहीं पाट सकते। आज भी शरत् एवं बङ्गला के उपन्यासकारों से अधिक हिन्दी के उपन्यासकार (प्रेमचन्द को छोड़कर) नहीं पढ़े जाते। आधुनिक सभी उपन्यासकार करीब-करीब जैनेन्द्र से प्रभावित हैं। वातावरण एवं अभिव्यक्ति का माध्यम सबों का करीब-करीब एक सा ही हो जाता है।

किसी-किसी में अपना जो है वह उनमें बोलता है कि पाप किसे कहते हैं—"चित्रलेखा का बीजगुप्त और वह साधक महात्मा भी तो निर्दोष था। मनुष्य था—और मनुष्य और उसकी मनुष्यता दोषों का भाण्डार हुआ करती है। लेकिन इतना सच कौन मानता है, पत्रों के बुद्धिजीवी सम्पादक भी क्या मान पाते हैं। कहते हैं कि पत्र की नीति अनुमति नहीं देती ऐसी कहानी छापने की। फिर किरणमयी (चरित्रहीन) बन कर शेष प्रश्न भी वह कोई है, स्मरण नहीं और जैनेन्द्र की नारी का क्या होगा? युरोपियो में अन्त क्या? इनका मानव शेक्सहीन रामराज्य के आदर्श की ओर जो बढ़ रहा है। तर्क तो बढ़ता है शब्दों का घरौंदा, शहरों की गोद में दुनिया का स्वप्न बुद्धिजीवी बौद्धिकता से तो होगा ही। इसीलिए सुनता हूँ Creative artist आलोचनाएँ न लिखते न पढ़ते, बुद्धि जो Critical हो जायगी, उनकी चेतना पर भार जो पड़ जायगा।

पर इनकी बुद्धि भी Critical है इसीलिए जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र किसी को पकड़ते तो नहीं पकड़ा जाते हैं जब कि उनका बौद्धिक तर्क जिद्द हो जाता है—अति यथार्थवाद या मनोवैज्ञानिक तथ्य तो क्या होगा? वह किसी को दे सकता है—पर क्या यह

सभी नहीं जानते। जानने से क्या ? जैनेन्द्र का अपना विचार और अपना परिवेश जो है शायद उसमें उन्हें विश्वास भी है। उनका जो युग आ रहा है उसका नायक ऐसा ही तो है—"लेकिन जहाँ होता है वहाँ वह आदमी नहीं होता। अभाव में होकर ऐश्वर्य में जान पड़ता है और ऐश्वर्य में होकर मुशीबत में। स्त्री पास होती है तो मानो स्त्री अपने को सागरों दूर अनुभव करती है पर दूर होती है तो अनुभूति पाती है कि वह उसके बश में है दूर बिल्कुल भी नहीं।"

और अन्त में तो शायद इन उपन्यासों में कुछ का विनाश ही होता है विकाश नहीं। कुछ जो बचते हैं अपनी जगह लौट जाते हैं मानो एक लम्बी यात्रा के बाद अपने घर लौट आये हों पाठक केवल एक करुण भावना से दूसरी करुण भावना में जाते हैं। क्रमागत सामाजिक मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों का निदर्शन नहीं होता। छोटी सूई भी चुभने से हम रास्ता देखकर चलने नहीं लग जाते बल्कि उसकी वेदना के थाह को जानने से और अधिक लापरवाह हो जाते हैं। जो ले जाता है निराशा के गह्वर में कोई गहरा स्वप्न प्रकाश तो नहीं मिलता, फिर क्रान्ति क्या खाक होगी! सुधार भी क्या होगा जो होना चाहिये आपेक्षित है लेकिन अपेक्षित जैनेन्द्र छूते नहीं, सिद्धान्त जो एक है इनका—"अपने भाव में ही सफलता मिलेगी स्यात् इसीलिये प्रकाशचन्द्र गुप्त ने आज से दस साल पूर्व लिखा था—क्या जैनेन्द्र जी के विचार भी फैलेंगे या वे अपनी बात दुहराने लगेंगे। दूसरे शब्दों में क्या उपन्यास आपके लिए प्रश्नोत्तर का एक व्याज रूप तो नहीं हो जायगा। कल्याणी में इसकी एक चिन्तनीय झलक है। इन समताओं के संतोषप्रद समाधान पर हिन्दी उपन्यास के प्रगति का एक बड़ा अंग निर्भर करता है।"

द्वितीय विश्वयुद्ध; विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी उपन्यास में कुछ नये विचारों एवं नयी उत्क्रान्ति का चिन्ह परिलक्षित होने लग गया था। गत तीन-चार वर्षों में उस उदय उत्क्रान्ति ने एक सुस्थिर दिशा की ओर कदम बढ़ाया, जो निसंदेह हिन्दी उपासना के लिए शुभ प्रतीत हुआ, और यह भी एक आश्चर्य एवं गौरव की बात है कि जब प्रेमचन्द एवं प्रेमचन्द परम्परा की स्थापना की मांग पुनः आलोचक एक स्वर से कर रहे थे उसी समय आंशिक रूप से प्रेमचन्द की सी प्रतिभा नागार्जुन के रूप में हिन्दी में आयी। नागार्जुन के औप-

न्यासिक कृतित्व से न केवल प्रेमचन्द की औपन्यासिक परंपरा जी उठी, वरन् इनकी कुछ एक रचना नयी वस्तु विन्यास और प्रेमचन्द परंपरा का विकास लेकर आयी ! मैं पुनः निवेदन कर दूं कि इसके लिए 'मेघ-खंड' एकत्रित हो रहे थे। और नयी राह बनाने की प्रसव पीड़ा हो रही थी। सर्व श्री वृन्दावनलाल वर्मा, निराला इत्यादि की कृतियाँ नये औपन्यासिक मूल्य की परिचायिका हैं। इस नवीन औपन्यासिक मूल्य के कुछ बिन्दु नीचे हैं, जिसकी चर्चा विस्तार से आगे की कृतियों के विश्लेषण में की जायगी। प्रथम—सामाजिक यथार्थवाद की ओर झुकाव, द्वितीय—अधिकाधिक जीवन को समग्रता में देखने का प्रयास। नगर और ग्राम के जीवन की एकाकार कर एक ही कृति द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने का महाकाव्योचित ऐतिहासिक प्रयास ! जिसके लिए प्रेम चंद एवं हिन्दी की एक मात्र सबल कृति गोदान को भी निम्न श्रेणी का उपन्यास माना जाता था। आज भी कुछ आलोचक ऐसा मानते ही हैं। इसकी चर्चा बिस्तार में "गोदान का स्थापत्य" नामक लेख में की जायगी। तीसरा है नवीन भाषा संस्कार ! अर्थात नवीन भाषा शैली के प्रयोग द्वारा हिन्दी को आंचलिक भाषाओं से भरना एवं सुगठित करना !

और चतुर्थ है, सबसे महत्वपूर्ण बात-जनवादी भावनाओं का अधिकाधिक पिष्ट पोषण अर्थात्—"जिनमें जीवन के प्रति अनुराग एवं मानव प्रेम हैं, जो स्थायी विश्वशांति, आजादी और जनवाद के समर्थक हैं।" (शिवदान सिंह)

हिन्दी के एक समर्थ आलोचक ने शायद नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' के प्रकाशन के कुछ दिनों पूर्व ही लिखा था—"हिन्दी के साम्यवादी साहित्यिक किसान-मजदूर के लेखकरूप में प्रेमचन्द की बीर पूजा करते हैं। इस वर्ग सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सचमुच ही आश्चर्य-जनक ज्ञान और अनुभव के साथ लिखा भी है। उनके बाद किसी उपन्यासकार ने किसान मजदूर वर्ग से सम्बद्ध उल्लेख्य उपन्यास नहीं लिखा है—घोर साम्यवादी उपन्यासकारों ने भी नहीं।"

(नलिन विलोचन शर्मा—आलोचना—इतिहास अंक)

और स्यात् इस विचार को साम्यवादी उपन्यासकार किसी भी प्रकार मानने के लिये तैयार नहीं था। और तब एक साल के अंदर ही 'बलचनमा' प्रकाशित होकर जनता के समक्ष आया (हालांकि इसकी

रचना कई वर्ष पूर्व ही हो चुकी थी) आलोचकों ने भिन्न-भिन्न राय इस पर जाहिर की लेकिन इस बात को कोई नहीं झुठला सके कि प्रेमचन्द की परंपरा में यदि सचमुच जनसाधारण के दर्द को जनसाधारण की पीड़ा को उसने अनुभव किया है तो 'बिल्लेसुर बकरिहा' के बाद 'बलचनमा' उपन्यास में ही हमें वह जनदृष्टि देखने को मिलती है।"

(प्रभाकर माचवे–आजकल–एक रेडियो वाद-विवाद)

मैं माचवे जी के इस कथन को बिल्कुल सही नहीं मानते हुए भी, परिवर्द्धन करना चाहता हूँ—कि नागार्जुन के उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा को (न केवल) स्थापित कर जनसाधारण को भी वाणी देने में समर्थ हुए हैं, बल्कि उसने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है। उसने दिखाया कि प्रेमचन्द का 'होरी' और 'गोबर' आज न केवल सामाजिक विकृतियों और पिशाचों का शिकार होकर मर जाता है बल्कि उससे मुक्ति के लिए वह संघर्ष करता है। वह जाग रहा है। उसमें दृढ़ता आ गई है। बलचनमा, विशेसरी और गाँव के नौजवान इत्यादि टूट सकते हैं पर झुक नहीं सकते हैं। यही आज के मानव का चरित्र है उसकी विशेषता है—उनका गौरव उनकी मानवता है। एक बात और—नागार्जुन ने बलचनमा में भारतीय जीवन के ऐसे पात्र को लिया है जो कभी भारतीय साहित्य का विषय नहीं बना था। प्रेमचन्द ने होरी ऐसे निम्न वर्ग के पात्र का वर्णन किया पर वह एक अच्छा किसान भी नजर आता है। बलचनमा उससे भी निम्नकोटि का है और वस्तुतः ऐसे भूमिहीन निम्न कोटि के मजदूरों की संख्या भारत में बहुत है। ऐसे पात्रों को खोज निकालना बतलाता है कि नागार्जुन की दृष्टि कितनी तीव्र है। आज (नागार्जुन के उपन्यासों में ही) मालूम पड़ता है कि भारतीय किसानों एवं जनसाधारण के अन्दर जो एक बहुत बड़ी शक्ति छिपी है जिसे जनता की ताकत लोग कहते आये हैं, पर जिसका दिग्दर्शन इतने प्रत्यक्ष रूपमें किसी भी भारतीय साहित्य में बिखर कर नहीं आया उसे खोलकर नागार्जुन ने रक्खा है। प्रेमचन्द ने ही पहले-पहल भारतीय जनता को जगाने की चेष्टा की थी। उसके पहले किसान-मजदूर भारतीय साहित्य के प्रमुख पात्र नहीं बन पाये थे। परन्तु प्रेमचन्द में एक द्वन्द्व था जो उन्हें बिल्कुल आगे नहीं बढ़ने दे रहा था। नागार्जुन में वह द्वन्द्व नहीं क्योंकि नागार्जुन एक ऐसे

सिद्धान्त को मानने वाले हैं जिसमें किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। लेखक वहाँ आत्मविश्वास नहीं खोता। इसी आत्मविश्वास ने नागार्जुन से इतना बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करवाया। और यह खुले आम ऐलान कर दिया कि—भूमि हीन किसान जाग रहे हैं—उनमें राजनितिक चेतना आ गई है और इनके द्वारा स्थापित शासन ही दण्ड शासन हो सकता है उसी में मानवता का कल्याण है। उसका उदाहरण इस प्रकार है—"दिनेश ने मुझे चूड़ा फांकने को दिया और कहा—भूख लगी होगी डाल लो पेट में तब तक कुछ।"

कामरेड !—"यह तो मैंने कभी सुना नहीं था ! लाज के मारे उस रोज तो इसका मतलब मैं मालूम नहीं कर सका लेकिन दो रोज बाद मालूम हो गया। कामरेड का मतलब है लड़ाई का साथी, एक ही मोर्चे के दो फौजी जवान एक दूसरे को कामरेड कहकर बुलाते हैं। अपने हक के लिए लड़ने वाले हम गरीबों के लिए कामरेड सा जास्ती प्यारा कोई लब्ज है ही नहीं।" (बलचनमा—पृष्ठ १७६)

नागार्जुन ने हिन्दी को कई श्रेष्ठ उपन्यास दिये—"रतिनाथ की चाची" हिन्दी में उनका पहला उपन्यास है, जिसमें "वे विकृत सामन्ती संस्कारों एवं जीवन व्यवस्था के चित्र उतारते हैं।" "बलचनमा में कथाकार ने भूमि सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है और बढ़ते हुए किसान संघर्ष की कथा का विषय बनाया है।"

'नयी पौध' उनका नवीनतम उपन्यास है। जिसमें मैथिल समाज के घृणित परंपरागत कर्मों का पर्दा फास किया गया है। "मैथिल ब्राह्मणों में कच्ची अवस्था वाली कन्याओं के ब्याह बूढ़ों से भी होते है। कन्या के सम्बन्धी इस प्रकार धन अर्जन भी कर सकते हैं। इसी कथा को नागार्जुन ने अपने उपन्यासों का आधार बनाया है। चौदह पन्द्रह वर्ष की कन्या से बूढ़ा अपना पांचवां ब्याह करना चाहता है। गांव का तरुण वर्ग इस विवाह का विरोध करते है पंडित समाज की गहरी सड़ांध और तरुण वर्ग का विद्रोह इस उपन्यास में वर्णित है कथा का निर्वाह लेखक ने बड़ी सफलता से किया है।"

(प्रकाशचन्द्र गुप्त–'कल्पना' मार्च ५४)

नागार्जुन का अन्तिम उपन्यास "बाबा बटेसर नाथ" है। इसमें लेखक ने बेदखली के विरुद्ध किसानों के एक जूट जनवादी किसान का चित्र खींचा है। किसान संघर्ष में विजयी होकर स्वतंत्रता, शांति और

प्रगति की पताका फहराते हैं। इस उपन्यास का कथातत्व भी नये औपन्यासिक मूल्य की स्थापना करता है। एक बूढ़ा बटवृक्ष (बाबा बटेसर नाथ) अपनी कथा स्वयं सुनाता चलता है। अवश्य ही यह लोक कथा को नवीन साहित्यक संस्कार प्रदान करने का प्रयास है।

उपर्युक्त सभी उपन्यासों में नागार्जुन धरती के धड़कन का परिचय देते हैं, भाषा, भाव कल्पना और व्यंजनाओं में भी यथार्थ का पल्ला कभी नागार्जुन ने छोड़ा नहीं। ऐसा लगता है कि लेखक स्वाभाविक जनचेतना को देखता हुआ लिपिवद्ध करता जा रहा है। पर वह इतना सूक्ष्म है कि उसे नागार्जुन की पैनी निगाह ही देख सकती थी। हाँ लिपिवद्ध हो जाने के बाद उससे कोई अनजान नहीं रह जाता। सभी उसे जानते है। यही Spontenity और स्वाभाविकता नागार्जुन के उपन्यास का कलात्मक विकास है। वह कुछ स्नोब (Snob) नहीं करता, वह कुछ लादता नहीं। जैसा कि कुछ आलोचक कहते हैं कि मार्क्सवादी उपन्यासकार जान बूझकर अपने सिद्धान्तों को साहित्य पर लादते हैं, पर नागार्जुन ऐसा नहीं करते हैं, वह जनता की उजड़ती हुई धारा को देखते हैं और लिपिवद्ध यह बात जरूर है कि जो आज नागार्जुन के क्षेत्र से दूर (जहाँ कैनवेस नागार्जुन ने लिया है) बैठे हैं, उन्हें इस स्वाभाविक जनचेता पर शायद विश्वास नहीं हो सकता है! पर आज अगर कम्युनिस्टों का आन्दोलन, किसान मजदूरों का चित्रण, नागार्जुन करते हैं तो वह सब बिल्कुल सच है! आज मनुष्य मुक्ति की ओर तेजी से बढ़ रहा है, स्वाभाविक राजनीतिक चेतना राष्ट्रीय आन्दोलन और किसान मजदूरों का आन्दोलन अपने आप जन साधारण में समा रही है। उनकी परिस्थितियाँ उन्हें उस ओर जाने के लिये प्रेरित कर रही है. उनकी गरीबी; उनसे कैफियत मांगती है कि तुम मिहनत के बाद भी गरीब क्यों हो, खेतों में अनाज उपजाने के बाद भी भूखे क्यों हो। सरकार जब बड़ी-बड़ी योजनायें बनाती है तो हमारा कोशी बाँध क्यों नहीं बनता। चीन और रूस में भयंकर नदियों को जनता की सरकार ने बाँधा तो हमारी राष्ट्रीय सरकार भी इसे बाँधने में समर्थ क्यों नहीं होती! क्यों आज सर्वे Survey होने पर हमारी जमीन से हमें जमींदार और बड़ा बड़ा जोतदार हमें वेदखल करने के लिये तैयार हैं। क्यों आज वे अपनी सारी शक्ति जमीन पर ही लगा रहे हैं। जमींदारी हटने से आज जमींदार बड़े-बड़े ट्रक्टरों के

द्वारा अपनी जमीन स्वयं जोतना चाहते हैं—पर जो किसान शुरू से उसे जोतता आया है, उसे सहज में हटाने से संघर्ष उत्पन्न होने लगता है। आखिर वे जमीन छोड़ेंगे तो खायेंगे क्या ? जायेंगे कहाँ ?

नागार्जुन के उपन्यासों को उठते हुए जन आन्दोलन की इस पृष्ठ भूमि में रखकर देखना है। अगर ऐसा नहीं किया जाता तो बहुत सारी गलत फहमियाँ उत्पन्न होगी। नागार्जुन के उपन्यास में न केवल बिहार-वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र आज बोल रहा है "नयी पौध" में एक स्थान पर नागार्जुन ने लिखा है—"बैठक या अड्डेबाजी के लिये" एजेंडा जैसी कोई चीज पहले से तय करके नहीं रखी जाती। जब जैसा मौका आया वैसी बात उड़ी और 'एक्शन' लेने या न लेने का फैसला ले लिया गया।" भारत के सम्पूर्ण किसान वर्ग का मानसिक दशा का इससे अच्छा सही विश्लेषण और क्या हो सकता है।

एक उद्धरण और देखें—बैठे-बैठे थके बूढ़े साँड़ की तरह अधमुँही आखों से वे जुगाली किया करते थे श्रीकृष्ण सिंह, अनुग्रह नारायण सिंह, कृष्ण वल्लभ सहाय, नेहरू, शेख अब्दुला, ट्रुमन और स्टालिन··· ···डेमोक्रेसी, कम्युनिज्म, अमेरिका, रूस, चीन······डी—व्ही—सी, कोसी प्रोजेक्ट···मंहगाई, वेतन वृद्धि फेमिली प्लानिंग···अरविंद और गोगिया पाशा लड़के को अमेरिका भेजवाना है······दामाद को टाटा में घुसाना है !" (नयी पौध) घटनाओं एवं वर्णनों का सारा जमघट आज जीवन की वास्तविकता है ! जिसे सम्पूर्णता में लाने का प्रयास नागार्जुन ने किया है। पर दुर्भाग्य है कि हिन्दी के आलोचक नागार्जुन के उपन्यासों की इस सम्पूर्णता को नहीं समझ सकने के कारण यह कहते हैं—"उसमें (बलचनमा में) उपन्यास की सम्पूर्णता नहीं है और कला की दृष्टि से उसमें वह कला नहीं है जो कि जरुरी है बल्कि "बिल्लेसुर बकरिहा" में निराला जी हमेशा एक सतर्क कलाकार रहे हैं।"

(स० ही० वात्स्यायन)

पुनः मैं कहूँगा कि यदि उपर्युक्त परिस्थितियों की पृष्टभूमि में नागार्जुन के उपन्यासों को देखा जाय तो उसमें जो Totality है, वह 'गोदान' के बाद किसी भी उपन्यास में नहीं आ सका था। पर उस Totality को बिल्कुल इतिवृतात्मक ढंग से नागार्जुन उघाड़ कर नहीं रखते उसकी ओर संकेत भर करते हैं, समझना आलोचकों

का काम है। अगर उसे उघाड़ कर नागार्जुन लिखे तो संभवतः वह हजारों भागों में भी नहीं समाप्त हो सकता। और यही संकेत एवं उसका स्वाभाविक स्फुरण, जैसा कि जीवन आज का है, नागार्जुन की कला है। विश्वविख्यात रूसी उपन्यासकार इलिया इरन बुर्ग ने इस सम्बन्ध में लिखा है।

"A writer can not write about everything and every body. He is limited both in the choice of a theme and in the choice of a charecters. This is true of every writer even the greatest. The work of the novelist is determind by the society in which he lives— that is some thing every one to day accepts. But it is determind also by his background, his experience, his personality."

पर इसे सभी कलाकार ग्रहण नहीं कर सकता। ऐसी रचना के लिये न अधिक सतर्क रहना पड़ता है और न अधिक असावधान्! हाँ, कलाक़ार का मस्तिष्क उदार एवं सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से बिल्कुल साफ रहे। अधिक सतर्क रहने से खूबियाँ उभर जाती है! हर्बर्ट रीड ने क़हा है कि श्रेष्ठ साहित्य क़ी रचना स्वप्न की अवस्था में होती है। रीड का यह सिद्धांत अर्ध सत्य होते हुए भी इतना तो मानना ही पड़ता है कि अगर स्वप्न को बिल्कुल स्वाभाविक़ (प्रकृत) मान लिया जाय कुछ मात्रा में भूत का स्वप्न साहित्यक़ारों को रचना में मदद पहुँचाता है। कलाकार जब पीछे की ओर देखता है तो वह अपने क़ो कुछ क्षण के लिये भूलता है निःसंदेह भूलना और फिर पीछे क़ी ओर देखना या आगे क़ी ओर देखना स्वप्न होता है। नागार्जुन के उपन्यास में यह सब कुछ हुआ है। 'बलचनमा' में उन्होंने पीछे को देखा है।

नागार्जुन ने इस पंक्ति के लेखक को बताया था कि बलचनमा का अन्तिम भाग वहाँ समाप्त होगा जिस दिन 'बलचनमा' अपनी जमीन को स्वयं अपने ट्रैक्टर पर चढ़ कर जोतेगा। यह कितना विराट स्वप्न है पर बिल्कुल अतिरंजित नहीं इसे तो होना हैं।

वात्स्यायन जी की आलोचना के संबंध में एक बात मैं और

कहना चाहूँगा। वह यह कि 'कला' को जिस अर्थ में आज वे समझते हैं, उसे नागार्जुन नहीं चाहते हैं, वह उनकी परम्परा से भिन्न पड़ती है। शायद इसलिये उनमें न तो शैली गढ़ने का मोह है और न बन्द कोठरी में 'नदी के द्वीप' या 'शेखर' की तरह मानसिक घुटन की कसरत करने की आदत ही है। जिससे कि करूणा उत्पन्न की जा सके, पाठक का मस्तिष्क कैपचर (Capture) हो पर, नागार्जुन का स्वाभाविक सरल चित्रण ही पाठक के मस्तिष्क को झकझोर डालता है। इसीलिये वे कला के नाम पर कला के Exploitation के पक्षपाती नहीं। पर अज्ञेय और जैनेन्द्र ऐसा करते हैं—डा० देवराज उपाध्याय ने अपने एक निबन्ध में लिखा है—"ऐसे कहानीकार हैं (उपन्यासकार भी—जोर मेरा) जो किसी नूतन टेक्नीक का अपकर्षण, अभिशोषण, Exploitation कर रहे हैं और इसी के बल पर पूजित होने की कामना करते हैं।" यह एक ऐसा राज्य है जिस पर आलोचकों को गंभीरता से विचार करना चाहिये, क्योंकि इसी राज ने हिन्दी कथा साहित्य को बहुत बड़ा धक्का दिया जिस कारण प्रेमचंद की परम्परा आगे तो क्या स्थापित भी न रह सकी। अगर जैनेन्द्र और अज्ञेय ऐसे शब्द शिल्पी न होते तो—सम्भवतः प्रेमचंद की परम्परा न मरती। गोदान की तरह आज का संपूर्ण राष्ट्र 'बलचनमा में' बोलता है (जैसा अस्तव्यस्त जीवन है वैसा उपन्यास भी) इसीलिये कभी-कभी पुराने उपन्यासों की चमत्कार खादी टेकनीक के अनुसार तौलने पर उसमें तारतम्य नहीं नजर आता और डा० नगेन्द्र ऐसे विद्वान आलोचकों को इसमें 'सर्जना शक्ति क्षीण मालूम पड़ती है।' इसमें वर्णन है, सर्जन इसमें बहुत ही कम है।" यह तर्क मानते हुए भी भ्रमपूर्ण है 'बलचनमा' में सर्जन केवल इसलिये नहीं है कि वह उपन्यासकार के मस्तिष्क की उपज नहीं है। वह महान भारत के विशाल भू खंड का टाइप है। उसे परिस्थिति ने उत्पन्न किया है, इसीलिये उपन्यासकार उसका वर्णन ही कर सकता है; कर भी सका है, सर्जन नहीं।

डा० नगेन्द्र ने आगे कहा है कि बलचनमा के बलिष्ठ व्यक्तित्व का जो कल्पना हम उसके मुखपृष्ठ को देखकर करते है तो जितना बलिष्ठ वह चित्र चित्रकार ने अंकित मुखपृष्ठ पर खींचा है उतना बलिष्ठ चित्र नागार्जुन उपन्यास के भीतर नहीं कर सके हैं। मुझे ऐसा मालूम

पड़ता है कि 'बलचनमा' के व्यक्तित्व को लेखक की चेतना अपने गर्भ में संभाल नहीं सकी। भावों और विचारों की गर्मी से उसका अकाल प्रसव हो गया है; ऐसा लगता है।

'बलचनमा' का बलिष्ठ व्यक्तित्व किस अर्थ में नगेन्द्र मानते हैं? बलिष्ठ Arlpitect से या शारीरिक गठन से। अगर शारीरिक गठन माना जाय तो उसमें कोई ऐसा अत्युक्ति नहीं है। 'बलचनमा' ऐसे बलशाली व्यक्तित्व के लिए ही यह सम्भव था कि वह मार खाते-खाते बच गया बेहोश मात्र ही हुआ—मरा नहीं।

अगर उसके व्यक्तित्व का स्थापत्य से सम्बन्ध जोड़ा जाय तो वह भी खरा उतरता है—श्यामू सन्यासी ने 'बलचनमा' की आलोचना करते हुए कथासार में इस ओर संकेत किया है—"बलचनमा" का आरंभिक जीवन भारत के औरत, अनाथ किसान बच्चों का जीवन है, जिसकी इमानदारी, चारित्रिक दृढ़ता और समाजोपयोगी सार्थक परिश्रम को कड़ा से कड़ा अत्याचार भी मिल नहीं सकता इसीलिए वय प्राप्त हो जाने पर जब छोटा मालिक उसकी बहिन रेवती का हाथ पकड़ती है तो अपनी माँ की बात—"मरजाना, लाख गुना अच्छा है मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नहीं" को गांठ बाँध वह मन में ठान लेता है कि चाहे उजड़ जाना पड़े, चाहे जहल-दामूल हो, चाहे फाँसी चढ़ूँ, मगर कभी जालिम के सामने सिर नहीं झुकाऊँगा। और अन्त में पक्का प्रौढ़ घर-बार बन जाने के बाद जब धरती, खेत, फसल और किसान आलम के हितों की रक्षा के लिए सीधे संघर्ष का प्रश्न आता है तब भी वह कदम पीछे नहीं हटाता। सोचता है—"महपुरा में एक किसान मारा गया था, यहाँ भी कितनों की लाश गिर सकती है। उनमें मैं भी हो सकता हूँ। किसान और मौत का आमना-सामना तो सदा ही होता रहता है। इसलिए जिस नये रास्ते पर कदम बढ़ाया उसे अच्छी तरह समझ लेने के बाद मेरी रीढ़ एकदम सीधी हो गई। एक अनूठी ताजगी महसूस की, सीना तन गया और वह निर्भय हो संघर्ष में कूद पड़ा, ठेठ किसान जनता के बीच से नये किसान नेता का आविर्भाव हुआ। (नया पथ, अगस्त ५३) बलचनमा के सबल व्यक्तित्व का इससे बड़ा परिचय और क्या मिल सकता है।

यह बात मान्य है कि नागार्जुन किसानों की हड्डी पसलियाँ एक-

त्रित कर पैटी बुजुओं लेखकों की तरह करुणा उत्पन्न नहीं करना चाहते। 'बलचनमा' में कोई रोग नहीं हैं, वह रोग से नहीं मर रहा है। वह गरीबी और दमन की चक्की में पीसा जा रहा है। वह मिहनत करता है मकई की रोटी और भूजा खाता है इसलिए उसका शरीर काफी स्वस्थ भी है।

आज बिहार के गांवों में हजारों ऐसे मुसहर इत्यादि जाति के मजदूर मिलेंगे जो भूखे हैं पर उनका शरीर अत्यन्त बलिष्ठ मालूम पड़ता है। थोड़ा सा चना चबेना खाकर भी २४ घण्टा खटते हैं काश, डा० नगेन्द्र ने इन्हें अपनी आँखों से देखा होता तो ऐसा न कहते। दर-असल 'बलचनमा' का आकाल प्रसव नहीं हुआ है बल्कि उपन्यासिक धारा की आलोचना में एक नया मोड़ सा आ गया है। सम्भवतः मनोविश्लेषक और औपन्यासिक धारा का अकाल प्रसव हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

डा० नगेन्द्र ने बलचनमा की आलोचना के सिलसिले में ही कहा था कि "आज एक पहलू को लेकर एक वर्ग चल रहा है। दूसरे पहलू को लेकर दूसरा वर्ग चल रहा है।" क्योंकि प्रेमचन्द ऐसा कोई बलिष्ठ व्यक्तित्व नहीं जो दोनों पहलुओं को समन्वय कर सके।

दरअसल अगर देखा जाय तो साहित्य एक वर्ग के लिये हुआ करता है। सभी वर्ग के लिये एकही साहित्य नहीं हो सकता। अगर वह होगा भी तो कुछ इस तरह की चीज़ होगी, जो अजीब सी जान पड़े। प्रेम-चन्द की समन्वय दृष्टि इसीलिए मुझे अजीब सी लगती है वे यहीं आश्रम बनाकर व्यक्ति में समाज का कल्याण दिखाते हैं, तो कहीं व्यक्ति में आश्रम को दिखलाते हैं। प्रेमाश्रम, रंगभूमि इत्यादि उपन्यास इसका उदाहरण है। पर यह आदर्शवादी ढंग बिल्कुल वैज्ञानिक दृष्टि ठीक तो नहीं बैठता। गरीबों के विशाल समूह पर होने वाले अत्याचार को कुछ छोटी-मोटी संस्थाओं के सुधारवादी ढंग द्वारा मिटाया नहीं जा सकता। जिसे प्रेमचन्द ने स्वयं अनुभव किया था और जिसका ह्रास गोदान इत्यादि में है पर नागार्जुन ने इसे अपने जीवा-नुभव से सीखा है, वे जानते हैं कि पूँजी-पतियों से समझौता नहीं किया जा सकता। इसीलिए मेहता इत्यादि चरित्र नागार्जुन न बना सके। इसलिये ये खुलेआम समझौता विहीन क्रान्ति की कामना करते हैं।

इसी समझौता विहीन संघर्ष की छाया हमें 'गोर्की' के 'मदर में मिलती है। "पावेल" अगर मजदूरों का प्रतिनिधित्व करता है तो 'बलचनमा' किसान वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है संघर्षशील किसान वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। इस दृष्टि से उसे गोदान से श्रेष्ठ उपन्यास माना जा सकता है किसी किसी आलोचक ने इसे बहुत सीमित क्षेत्र का उपन्यास कहा है। पर वास्तविकता यह है कि नागार्जुन के उपन्यासों के लोकल कलर को न पकड़ सकने के कारण उसे सीमित क्षेत्र का उपन्यास कहा जा रहा है। बलचनमा की कथा आज न केवल दरभंगा, बल्कि होरी की भूमि अवध के किसानों की भी कथा है हाँ, स्थानीय मैथली भाषा का प्रयोग उसकी अपनी विशेषता है। जिस कारण उसमें "मिट्टी की सैन्धी" गन्ध मिलती है। "यही लोकल कलर आधुनिक उपन्यासों की विशेषता है" बाबा बटेसरनाथ और नयी पौध में भी यही व्यापकता हमें नजर आती है युग की चेतना का प्रभाव विशेसरी ऐसी लड़की पर पड़ता है और वह समाज की रूढ़ियों एवं अन्याय को कुचल कर उद्धार पाती है नयी पीढ़ी उसमें उसे सहायता देती है नयी पौध की विशेसरी की तरह प्रेमचन्द की निर्मला भी हो सकती थी पर उपन्यासकारने बदलते हुए भारत का परिचय दिया है। पर यह सब बिल्कुल सच एवं प्रत्यक्ष है—इसे हो कहते हैं साहित्य का जीवन के साथ सम्बन्ध और उसको साहित्य में आगे बढ़ाना—इसे ही यथार्थ भी कहा जा सकता है, जो अपने आप में आदर्श भी है—यथार्थ चित्रण के विषय में का० मालेनकोव के विचार देखें—"यथार्थवादी कला की शक्ति और महत्व इस बात में है कि वह साधारण मानव के ऊँचे आध्यात्मिक गुणों और उसके चरित्र की ठेठ 'रिर्थकल' स्वाभाविक विशेषताओं तथा रचनात्मक गुणों "पोजिटिव" की खूबियों को उभार सकता है। उसके लिये ऐसा करना जरूरी भी है साधारण मानव के ऐसे स्पष्ट व कलात्मक छवि चित्र आँकना जरूरी है जो दूसरों के लिये उदाहरणीय और अनुकरणीय बन सकें।

नागार्जुन के उपन्यासों पर यह कथन बिल्कुल सही बैठता है। उसके पात्र हार नहीं मानना चाहते गरीबी, बदहाली, भुखमरी और दमन को परख कर भी नहीं। यही नागार्जुन की सबसे बड़ी खूबी है। उसका विश्वास जनता में है। वह पाठक और पात्र दोनों

को मानता है, वह उनकी अजेय शक्ति एवं हार न मानने वाले व्यक्तित्व को पहचानता है। इसीलिये लेखक को स्वयं अपनी उपन्यास कला पर बहुत अधिक विश्वास भी है। इस पंक्ति के लेखक को नागार्जुन ने बताया था—"मेरा आलोचक और प्रोफेसर तो बलचनमा है। वह अगर मुझे अधिक नम्बर देगा तभी मैं पास हो सकूँगा।" इससे साफ जाहिर होता है कि लेखक को अपने पर एवं आवाम् पर दृढ़आस्था है। आज के लेखकों में यही आस्था होनी चाहिये। जिसका अभाव हम पाते हैं। प्रेमचन्द में यह आस्था थी इसीलिये तो उन्होंने मंगल सूत्र में कहा था—"दरिन्दों के बीच लड़ने के लिये हथियार बाँधना होगा।" "हमी लोगों में वह शक्ति आएगी, वह हमारे सुख का दिन होगा। तभी यहाँ मजदूरों और कास्तकारों का राज होगा। मेरा खयाल है कि आदमी की जिन्दगी और सहन दूनी हो जायगी।" और इस स्वप्न को नागार्जुन का बलचनमा आज साकार करने के लिये सर में कफन बाँध चुका है। वह आगे बढ़ रहा है। इसीलिए इसे आज के युग का महाकाव्य "Epic of the age" कहा जा सकता है। और उस महाकाव्य के सारे पृष्ठ स्वयं बनते चले जा रहे हैं केवल उसके विकाश को पहचान कर रचना करनाही लेखक की प्रतिभा का परिचय देता है। इलिया एरन बुर्ग अपने नवीनतम निवन्ध Writer and his craft में इस ओर संकेत किया है—"I do not wish by any means to imply that the writer should parade himself in the fore ground of his novel and contimolly impress on the reateer his attitude to his characters and the events he describes to me a tandentionel novel is a novel vibrant with feeling. A writer who is inspired by exalted-ideas has grasped the dynomics of social development, he sees life and truth on the side of some of his characters and falsehood and down ever shadowring others.

जहाँ तक नवीन भाषा शैली का सम्बन्ध है नागार्जुन आधुनिक हिन्दी गद्य निर्माताओं में एक प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। उन्होंने हिन्दी को न केवल नये शब्द और मुहावरे दिये, बल्कि एक नयी शैली दी जिसे नागार्जुन शैली कह सकते हैं, और जिस शैली में (मैथिली में)

बिहार की अधिक आबादी बोलती है। नागार्जुन ने अपनी इस शैली को सायास पूर्वक गढ़ने की कोशिश भी एक प्रकार से नहीं की है ऐसा लगता है—बल्कि शैली को गहराई से पहचान कर प्रयोग किया है। "इस दृष्टि से यह (बलचनमा) (नागार्जुन के सभी उपन्यास—जोर मेरा) हिन्दी का पहला सफल उपन्यास है।" (डा० नगेन्द्र)

ऐसी बात भी नहीं कही जा सकती कि ग्रामीण शैली का प्रयोग हिन्दी में पहले पहल नागार्जुन ने ही किया—राहुल एवं प्रेमचन्द इत्यादि ने भी अपनी रचनाओं में इसे स्थान देने का प्रयास किया था—परन्तु वह शैली उनके लिये प्रमुख न बन सकी। नागार्जुन ने इसे प्रमुखता दी। लेकिन नागार्जुन में शैली की नवीनता का एक कारण और है कि मैथली मिश्रित हिन्दी का प्रयोग हिन्दी साहित्य में कभी न हुआ। इस क्षेत्र में नागार्जुन अकेले हिमालय पर्वत के समान खड़े हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने नागार्जुन की इस शैली की प्रशंसा करते हुए लिखा है "मेरी राय में यह प्रयोग हिन्दी भाषा के सभी क्षेत्रों में किया जा सकता है। इस प्रयोग से हिन्दी की शक्ति (शब्द और शैली दोनों दृष्टियों से) बढ़ेगी।" न केवल हिन्दी के सभी अंचलों में इसका प्रयोग किया जाय वरन् मेरा तो निजी विचार है कि इसका प्रयोग साहित्य की सभी प्रवृत्तियों में किया जा सकता है नागार्जुन ने ऐसा किया भी है। यही कारण है कि हिन्दी के आलोचक नागार्जुन की कविता में आये मैथिली के प्रतीक, मूर्त्त विधान, चित्र इत्यादि को न समझ सकने के कारण उसे अनगढ़ शैली एवं उबर-खाबर कहते हैं। नागार्जुन की कविता पुस्तक "युग-धारा" के प्रकाशकीय वक्तव्य में प्रकाशक ने इस ओर गम्भीरता से संकेत किया "नागार्जुन की हिन्दी रचनाओं के मूल्यांकन में उनकी मैथिली-कवि कर्म का परिज्ञान पर्याप्त सहायक सिद्ध होगीं।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जी को स्वयं नागार्जुन जी की रचना के विषय में कुछ भ्रम हो गया है। उन्होंने लिखा है—"बलचनमा नागार्जुन का सम्भवतः पहला उपन्यास है। अपने इस पहले उपन्यास के साथ ही नागार्जुन हिन्दी उपन्यासकारों की प्रथम श्रेणी में आ गए हैं। यों 'बलचनमा' में कितने ही दोष हैं, कितनी जगह उसमें कच्चापन साफ झलकता है, सबसे बढ़कर उपन्यास के पिछले भाग में जैसे कथानक का विकास एकाएक रुक गया है।" हिंदी में 'बलचनमा' नागार्जुन का दूसरा उपन्यास है, पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची'

है। मैथिली के तो नागार्जुन ख्याति प्राप्त युगान्तरकारी (कथानक एवं भाषा शैली दोनों दृष्टि कोण से) उपन्यासकार हैं। प्रकाशन एवं रोजी-रोटी की समस्या ने ही नागार्जुन को हिन्दी में लिखने के लिए बाध्य किया।

नागार्जुन सभी तरह की भाषा आसानी से प्रयोग में लाते हैं—क्योंकि उनका अधिकार समान रूप से हिन्दी, मैथिली, उर्दू, बंगला इत्यादि पर है। कभी-कभी वे बिलकुल चलती फिरती हिन्दी का प्रयोग करते हैं, जिसमें मैथिली का पुट रहा करता है—"तो क्या यहाँ भी आसरम है? मैं चकुआकर (चौंककर) इधर-उधर ताकने लगा।" बलचनमा से नागार्जुन की भाषा में पात्रों के अनुसार परिवर्तन होता रहता है—सभ्य ब्राह्मण शुद्ध एवं संस्कृत मैथिली हिन्दी बोलते हैं, गंवार, ग्वाले और मुसहर, धानुक एक प्रकार की बोली बोलते हैं, जिसे नागार्जुन "गुअर-टोली" की भाषा कहा करते हैं। इनकी भाषा बिलकुल रबड़ की तरह लचीली मालूम पड़ती है। जब जो चीज मन में आया पिघला कर शीघ्र बना लिया। एक जगह उर्दू मिश्रित हिन्दी का प्रयोग देखिये—"तन्हाई के लिए उसकी रुह मानो तड़प रही थी।" और एक तीसरी प्रकार की भाषा, नागार्जुन चलती फिरती हिन्दी का प्रयोग करते हैं। लेखक जहाँ अपनी ओर से कुछ कहता है वहाँ इस भाषा का प्रयोग किया है।

भाषा की इस सूक्ष्मता एवं मर्म में न रम सकने के कारण आलोचकों की यह शिकायत होती है कि इनके उपन्यासों में कच्चापन है। पर वैसा है नहीं। वे किसी घटना की भयंकरता दिखाने के लिए हिन्दी चित्रों की तरह पूर्व संगीत द्वारा दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित नहीं करते बल्कि बड़ी से बड़ी बात और घटनाओं को कुछ इस प्रकार रख देते हैं कि लगता है कि यह सब बिल्कुल साधारण सी बात है, होता है यह। इसीलिए बलचनमा जब मार खा बेहोश होकर गिर पड़ता है तो पृथ्वी डोलने नहीं लगती, संसार में अंधकार छाने नहीं लग जाता। किसी के मरने पर अंधकार छाता भी नहीं है। पर इस स्वाभाविक तत्त्व से इन्कार कौन करेगा। परन्तु इसे कच्चापन नहीं माना जा सकता। जैसे होता है, वैसा नागार्जुन ने दिया।

हाँ, भाषा की दृष्टि से एक शिकायत हो सकती है कि नागार्जुन ने उस क्षेत्र की भाषा को सफलता से स्थान नहीं दिया है—जैसे बलचनमा बोलता है—"मैं चकुआकर इधर-उधर ताकने लगा।" 'इधर-उधर' का

प्रयोग तो कम ही बलचनमा जैसा पात्र उस क्षेत्र में करता है। वहाँ अधिकतर इस प्रकार का प्रयोग होता है—"हम चकुआकर एम्हर-उम्हर ताकने लगा।" मेरे ग्रामीण हैं जो अधिकतर बोलते हैं—"भइया बजाता है।" (बुलाता)

परन्तु नागार्जुन इस ओर प्रयत्नशील हैं और वे मैथिली क्षेत्र की अलग-अलग बोलियों को जैसे सहरसा की मैथिली, पूर्णिया की मैथिली, भागलपुर की मैथिली, दरभंगा की मैथिली, मुंगेर और मुजफ्फरपुर की मैथिली इत्यादि को अपने उपन्यासों में स्थान देने का प्रयास कर रहे हैं। मात्र हिन्दी लेखकों से इसीलिये नागार्जुन की भाषा शैली भिन्न हैं।

अज्ञेय और जैनेन्द्र में शैली की मात्र सूक्ष्म कृत्रिमता है। नागार्जुन में सहजता के साथ व्यापकता भी है। जीवन के अनुभव के कारण ही नागार्जुन के उपन्यास में यह गुण आता है। उन्होंने जीवन को अति निकट से देखा है, उस जीवन को जो वदहाली और गरीबी का जीवन है, क्योंकि वह स्वयं ही गरीब हैं। 'युगधारा' (काव्य पुस्तक) में लिखा है—"शोषित पीड़ित वर्गों के प्रति कवि की सहानुभूति कृत्रिम नहीं है। नितान्त दरिद्र कुल में जन्म हुआ, गरीबी के कारण स्कूल, कालेज का मुँह नहीं देखा।" यही कारण है कि उनकी शैली में घनत्व (Iatwsity) आप से आप आया है। विद्वता से वे घनत्व पैदा नहीं करते। और न जैनेन्द्र एवं अज्ञेय की तरह (mannerihm) के ही फेर में पड़ते हैं। क्योंकि उन्हें नया (Mauner) बना-बनाया मिलता है। इसीलिए उन्हें भाषा गढ़नी नहीं पड़ती। इसी सरल जन भाषा भाव के प्रयोग से तो वे लोक प्रचलित हुए हैं और होंगे।

नये मूल्यों की उपर्युक्त परंपरा में श्री फणीश्वरनाथ रेणु का नव प्रकाशित उपन्यास "मैला आंचल" भी अपना स्थान रखता है। इसके संबंध में हिन्दी आलोचक श्री नलिन विलोचन शर्मा यह लिखते हैं—"मैंने 'मैला आंचल' को अपने द्वारा उद्‌भावित वर्ग में रखकर परखने की कोशिश की। स्वयं लेखक ने इसे एक आंचलिक उपन्यास कहना पसंद किया है।

उसका अपना कथन है-"यह है 'मैला आंचल,' एक आंचलिक उपन्यास। कथांचल है पूर्णिया। पूर्णिया—बिहार राज्य का एक जिला है। ....मैंने इसके हिस्से के एक ही गांव को—पिछड़े गांव का प्रतीक मानकर—इस किताब का कथाक्षेत्र बनाया है। "बङ्गला में इसी अंचल

पर आधारित उपन्यास 'जागरी' कुछ दिनों पहले प्रसिद्ध हो चुका है। बङ्गला के अन्य लेखकों के आंचलिक उपन्यासों ने भी समुचित महत्व प्राप्त किया हैं। लेकिन "मैला आंचल" केवल आंचलिक उपन्यास ही नहीं है।" यह आज के युग की जनवादी भावना और नये औपन्यासिक मूल्य, जिसकी मैंने चर्चा की है, उसके लिए प्रसिद्ध है। कथा का कोई सबल मेरुदंड न रहने पर भी आज के जीवन की रेखाएँ कथाकार स्पष्ट कर देता है। आज का जीवन जिस प्रकार रेखाओं में अंकित है, उसका शुद्ध एवं सफल अंकन इस उपन्यास में हो पाया है। फिर भी यह मात्र यथार्थवादी कृति से अधिक एक सफल जनवादी एवं कलात्मक कृति के साथ-साथ; भविष्य के जीवन की सूचना देने वाली कृति है। फलतः आंचलिक उपन्यास की सीमाएँ इस उपन्यास को नहीं घेरती हैं, हालांकि लेखक इसे आंचलिक उपन्यास ही कहता है। लेखक की एक मात्र यही धारणा इस उपन्यास को 'गोदान' एवं बलचनमा से अधिक महत्वपूर्ण रचना न बना सकी। अगर इस कृति की सारी रेखाएँ स्पष्टतः उभरकर सामने आतीं और आज की जनवादी भावना को लेखक अधिक रंग दे सकता तो कृष्णचन्द्र और नागार्जुन की तरह अवश्य यह गोदान और 'बलचनमा' के बाद हिन्दी का तीसरा मील स्तंभ कायम करती।

पर आंचलिक उपन्यास के साथ-साथ हिन्दी के उपन्यास अर्थात प्रेमचन्द एवं नागार्जुन की परंपरा का उदाहरण पेश करते हुए भविष्य के नये इंसान और नयी दुनियां की सूचना देने वाला यह उपन्यास है। एक उद्धरण "मैला आंचल" से प्रस्तुत है—डाक्टर ममता को लिखता है—"तुम जो भाषा बोलती हो, उसे ये नहीं समझ सकते। तुम इनकी भाषा नहीं समझ सकती। तुम जो खाती हो, ये नहीं खा सकते। तुम जो पहनती हो, ये नहीं पहन सकते। तुम जैसे सोती हो, बैठती हो, हँसती हो, बोलती हो—ये वैसा कुछ नहीं कर सकते।······फिर तुम इसे आदमी कैसे कहती हो!······

······वह आदमी का डाक्टर है, जानवर का नहीं।······टेस्ट-ट्यूबों' में आदमी और जानवर के खून अलग रखे हुए हैं। दोनों के 'सिरम' की अलग-अलग जरूरते हैं।······डा० आदमी के खून वाले ट्यूब को हाथ में लेकर जरा और ऊपर उठाकर, गौर से देखता है।—

वह जानना चाहता है, देखना चाहता है कि इन इन्सानों और जानवरों की एक कणिका में कितना विभेद है, कितना सामंजस्य है।......

खून से भरे टेस्टट्यूबों में अब कोई आकर्षण नही! क्या करेगा वह संजीवनी बूटी खोजकर? उसे नहीं चाहिये संजीवनी। भूख और वेबसी से छटपटा कर मरने से अच्छा है, "मैलेगनेन्ट मैलेरिया" से बेहोश होकर मर जाना। तिल-तिल कर, घुल-घुलकर मरने के लिए उन्हें जिलाना बहुत बड़ी क्रूरता होगी।......सुनते हैं, महात्मा गांधी ने कष्ट से तड़पते हुए बछड़े को गोली से मारने की सलाह दी थी।...... वह नये संसार के लिए इन्सान को स्वस्थ और सुन्दर बनाना चाहता है। यहाँ इन्सान हैं कहाँ?......अभी पहला काम है—जानवर को इन्सान बनाना।

उसने ममता को लिखा है—

"यहाँ की मिट्टी में बिखरे, लाखों लाख इंसानों की जिन्दगी के सुनहरे सपनों को बटोर कर यहाँ के प्राणी के जीव कोष में भर देने की कल्पना मैंने की थी। मैंने कल्पना की थी—हजारों स्वस्थ इंसान, हिमालय की कंदराओं में, त्रिवेणी के संगम पर—अरुण, तिमुर और सुण कोशी के संगम पर—एक विशाल "डैम" बनाने के लिए पर्वत तोड़ परिश्रम कर रहे हैं......लाखों एकड़ बन्धा धरती कोशी कवलित भरी हुई मिट्टी शश्य श्यामला हो उठेगी। कफन जैसे सुफेद बालू भरे मैदान में धानी रंग की जिन्दगी के वेल लग जायेंगे।......मकई के खेतों में घास गढ़ती हुई औरतें बे वजह हँस पड़ेगी। मोती जैसे सुफेद दांतों की चमक!!"

डाक्टर का रिसर्च पूरा हो गया। एकदम 'कम्पलीट'। वह बड़ा डाक्टर हो गया।......डाक्टर ने रोग की जड़ पकड़ ली है......।

गरीबी और जेहालत—इस रोग के दो कारण हैं। एनोफिल्स से भी ज्यादे खतरनाक—सैण्डफ्लाई से भी ज्यादा जहरीले हैं यहाँ के...

नहीं! शायद वह काली चरण की तरह तुलनात्मक उदाहरण दे बैठेगा।...काली चरण किसानों के बीच भाषण दे रहा था—"ये पूंजी-पति और जमींदार खटमलों और मच्छड़ों की तरह 'सोसख' हैं।...... खटमल! इसीलिए बहुत से मारवाड़ियों के नाम के साथ 'मल' लगा हुआ है और जमींदारों के बच्चे 'मिस्टर कहलाते हैं। मिस्टर—मच्छड़!!"

दरार पड़ी दीवार !···यह गिरेगी। इसे गिरने दो ! यह समाज कब तक टिका रह सकेगा।"

(पृ० २२८)

और इस नये शोषित संघर्ष शील मनुष्य से साधारण सहानुभूति रखने मात्र से ही डाक्टर ऐसा कोई भी साधारण आदमी इस प्रकार गिरफ्तार किया जा सकता है—दारोगा, कांग्रेसी मंत्री की सिफारिश पर कि डाक्टर "कम्युनिष्ट" हैं; डाक्टर से तर्क करता है।

"कम्युनिष्ट पार्टी से आपका कैसा रिश्ता है।" "मेरे बहुत से दोस्त कम्यूनिष्ट हैं।"

"आपने संथालों को······भड़काया······समझाया था कि जमीन पर जबर्दस्ती हमला कर दो ? संथालों ने अपने बयान में कहा है।" "संथाल लोग समय-समय पर मुझसे पुराने कागजात पढ़वाने आया करते थे।······जजमेंट वगैरह।"

"आप अपनी किताबें दिखला सकते हैं ?"—दारोगा साहब उठकर किताबों की आलमारी के पास जाते हैं।···साला, सब डाक्टरी किताबें हैं !······चिल्ड्रेन ऑफ यू० एस० एस० आर। लालरूस,······लेखक बेनीपुरी।······लालचीन, लेखकः बेनीपुरी।

"यह सब तो रूस की किताबें हैं।"

"रूस की नहीं।······रूस के बारे में।"

"दोनों एक ही बात है।"—दारोगा साहब उस किताब को उलटते हैं—मानों किताब के पन्नों में 'बम' छिपा हो।······बहुत सतर्क होकर पृष्ठ उलटते हैं।

······डाक्टर साहेब 'गिरिफ्फ'।"

(पृ० ३१८)

"डाक्टर नजर-बन्द हैं। जेल अस्पताल के एक 'सेल' में उसे रखा गया है।······हर सप्ताह कोई न कोई ऑफिसर आकर उसे घंटों परीशान करते हैं, तरह-तरह के प्रश्न पूछता है।······"

राष्ट्रीय सरकार के कारनामें ! (पृ० ३५७)

सामाजिक जीवन के छविचित्र, अमीर गरीब, मजदूर किसान, राजनीतिक कार्यकर्त्ता, डकैत और वैरागी, साथ-साथ स्त्रियोचित यौन संबंध सबों की रेखाएँ कलाकार उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं—साथ-साथ प्रमुखता है इसकी राष्ट्रीय जागरण की भूमिका, (आजादी के

लिए प्रयत्न 'बलचनमा' का आधार तो यह राष्ट्रीय चेतना है) स्वतंत्रता की आशा-निराशा, कोशी बांध की योजना, विश्व-युद्ध की घृणित-लिप्सा और विश्व-शांति के लिए मानव के एक दल का विश्व व्यापी प्रयास, जिसका बंधन "बुल्गानिन" और 'खुश्चेव' की भारत मैत्री यात्रा से और ज्यादा दृढ़ हो गया। पर प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादी हिंसक ! "......लेबोरेटरी !......साम्राज्य-लोभी शासकों की संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के दल खोज कर रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं......मरात्मक, विध्वंसक और सर्वनाश शक्तियों के सम्मिश्रण से एक एक ऐसे 'बम' की रचना हो रही है—जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत कर देगा।......ऐटम ब्रेक कर रहा है ।......हिंसा जर्जर प्रकृति रो रही है।...व्याध के तीर से जख्मी हिरन शावकसी मानवता को कहाँ पनाह मिले ?......यह अंधेरा नहीं रहेगा। मानवता के पुजारियों की सम्मिलित वाणी गूँजती है—पवित्र वाणी उन्हें प्रकाश मिल गया है। तेजोमय !! क्षत-विक्षत पृथ्वी के घाव पर काई शीतल चंदन लेप रहा है !... प्रेम और अहिंसा की साधना सफल हो चुकी है।...फिर कैसा भय ? मानव ही सबसे बढ़कर शक्तिशाली है ! उसको 'जय' करना असंभव है—प्रचंड शक्तिशाली बमों से भी नहीं।...पागलो ! आदमी, आदमी है 'गिनीपिग' नहीं।......"

लेखक की यह विश्वास-मयी सबल भावना हमारे उपन्यासकारों को दृष्टिदान देगी एवं युग को सम्बल प्रदान करेगी ?

भाषा शैली के संबंध में भी पुनः श्री नलिन बिलोचन शर्मा की बातें दुहराकर, मैं कहना चाहूँगा कि नागार्जुन की भाषा शैली का यहाँ स्पष्ट विकास हो पाया है, और नागार्जुन की भाषा मैथिली एवं शैली दोनों का अनुकरण 'रेणु' ने किया है। इस भाषा शैली के संबंध में विस्तार से ऊपर विवेचना की जा चुकी है। नलिन जी कहते हैं— "मैला आँचल की भाषा से हिन्दी समृद्ध हुई है। रेणु ने कुशलता से ऐसी शैली का प्रयोग किया है जिसमें आंचलिक भाषा-तत्त्व परिनिहित भाषा में घुलमिल जाते हैं ?"

इस नवीन उपन्यासकारों में जैन कुमार जैन और उनका उपन्यास उद्भ्रान्त उल्लेखनीय है। 'उद्भ्रान्त" एक प्रश्न चिन्ह है— हिन्दी उपन्यास साहित्य के लिए जीवन के लिए, और आज के युग के लिए ! फलतः उद्भ्रान्त हमें सोचने को विवस करता है। एक नयी दृष्टि

देता है। हिन्दी उपन्यास साहित्य आज अवाध गति से जीवन के विभिन्न आयामों को समेटता हुआ आगे बढ़ता जा रहा है। श्री जैन कुमार जैन जी का उपन्यास "उद्भ्रान्त" इस प्रगति की एक सबल एवं नवीन कृति है।

'उद्भ्रान्त को उपर्युक्त भूमिका के प्रकाश में रखकर देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह उपन्यास गत्यविरोध की सीमाओं से आगे बढ़ी हुई यथार्थवादी कृति है। हिंन्दी साहित्य में यथार्थवाद की दो धाराएँ उभरकर सामने आयीं।—"एक धारा मनुष्य को व्यक्ति रूप में परिकल्पित करके उसके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल ग्रंथियों को सुलझाने में तल्लीन हो गई और दूसरी धारा उसको समष्टि की सामान्य इकाई मानकर उसके वर्गाश्रित स्वभाव की व्याख्या करती है।" पहली धारा उपन्यास के मानवपक्ष को निर्जीव कर डालने में पूर्णतया सफल हुई हैं। पर जहाँ तक दूसरी धारा का एक प्रश्न है, उस धारा ने हिन्दी उपन्यास को एक नवीन दृष्टिकोण दिया है। इसी धारा की औपन्यासिक कृतियों में 'उद्भ्रान्त' की गणना होगी। यथार्थवादी उपन्यासों के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए हिन्दी के मनीषी आलोचक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"हमारे देश के उपन्यासों में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है, किन्तु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है—अर्थात आगे बढ़े हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों ले चिपटी हुई आचार परंपरा इन दोनों के व्यवधान को पाटते रहने का निरन्तर प्रयत्न—वह कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा। दुर्भाग्यबश अपने देश के कम लेखकों ने इस व्यवधान के स्वरूप को समझने का प्रयास किया है। उद्भ्रान्त' का लेखक इन दुर्गुणों से मुक्त है। उन्होंने उपर्युक्त सीमाओं को सजगता से समझा है और यह आसानी से कहा जा सकता है।

जैसा कि इस पुस्तक के भूमिका लेखक, हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार श्री तारकेश्वर प्रसाद ने लिखा है—'...... उद्भ्रान्त' अपराध था अपराधियों के वातावरण में भी जीवन के उदात्त तत्वों से ओत प्रोत है। जब अचेतन में निम्नवृत्तियों का अस्तित्व है तो सद्वृत्तियां भी वहाँ अवश्य होंगी। उद्भ्रान्त' में इसका परिपुष्ट विश्लेषण है। तिवारी, निरंजन और लच्छो इस उपन्यास के मुख्य चरित्र है। तिवारी और निरंजन दोनों पढ़े लिखे अच्छे परिवारों के लड़के हैं। तिवारी नारी-प्रवंचना से आहत होकर और निरंजन वेकारी का शिकार होकर

दुष्कर्मी बनते हैं। लेकिन दुष्कर्मी जीवन उन्हें राहत नहीं देता और सद् की असद् पर विजय होती है।"

जीवन की विषमता को पाटते हुए यह कृति समकालीन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को भी एक गंभीर चुनौती है। बुर्जुवा मनोविज्ञानवेत्ता अब तक सिद्ध करते आये हैं कि प्रत्येक मनुष्य में पशुत्व और देवत्व दो वृत्तियां समान रूप से वर्त्तमान रहती हैं। परिस्थिति (Environment) अथवा वंश परंपरा (Meredity) के प्रभाव से पशुत्व और देवत्व की भावना बढ़ती है और मानव जीवन को बदल डालती है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य के द्वारा यह प्रमाणित करते हैं कि श्रेष्ठ वर्ग में उत्पन्न एवं पला हुआ व्यक्ति निम्न वर्ग में पले हुए व्यक्ति से अधिक सम्भ्रान्त और श्रेष्ठ होगा। निम्नवर्ग के व्यक्तियों का चरित्र अपराधियों का चरित्र होगा। ये मनोवैज्ञानिक इस बात को मानने के लिए कतई प्रस्तुत नहीं कि वाह्य भौतिक शक्तियों के बीच मानव मन जिस प्रकार की प्रतिक्रिया प्रकट करता है, वह पशुत्व और देवत्व की कोटि में आता है। मनुष्य समाज की भौतिक उपकरणों की बिशृंखला, भिन्नता के कारण ही चोर डाकू, हत्यारा लोभी, लालची एवं क्रूर बनता है, न कि उसके मन में छिपी हुई कुंठा पशुत्व का रूप धारण कर लेती है। जन्म से ही मनुष्य अच्छा या बुरा नहीं होता, बल्कि सामाजिक भौतिक साधन उसे ऐसा करने को प्रेरित करता है।

उद्भ्रान्त के दो प्रमुख पात्र तिवारी और निरंजन समाज के उपर्युक्त वातावरण से ही पीड़ित हैं। तिवारी और निरंजन नहीं चाहते हुए भी, क्योंकि ये पढ़े-लिखे बी० ए० पास हैं, गिरहकट एवं चोर डाकुओं सा जीवन बीताने के लिए मजबूर किये जाते हैं। क्योंकि इसके अतिरिक्त उनके सामने जीवन का कोई ऐसा आदर्श स्पष्ट नहीं है, जो उन्हें घोर बेकारी की अवस्था में भी प्रेरणा दे सके। और उनकी आर्थिक कठिनाई दूर हो। निसन्देह यह समस्या आज के युग जीवन के लिए एक बहुत बड़ा कलंक एवं चुनौती है, जिसे लेखक ने सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है। निरंजन बेकारी से ऊब कर तिवारी का पेशा अख्तियार करने के लिए प्रस्तुत है, जिसे सामाजिक हेय समझते हैं। तिवारी की मानबोचित भावना भी उसे हेय समझती है, फलतः वह निरंजन को उस ओर जाने से रोकता है।

"तुम जैसे सम्भ्रान्त और शिक्षित कुलीन व्यक्ति को अपने नीच कर्म में घसीटने का साहस मुझमें न हो सकेगा।"

तिवारी का उत्तर, "तो क्या उसे शुभ कर्म कहा जाय ? क्यों ? अरे, जिसे दुनियां हमेशा एक मुँह से बुरा कहती आयी है वह अच्छा कैसे हो सकता है। मैं उसे अच्छा नहीं कह सकता।"

निरंजन—'सवाल है कि तुम्हारा पेशा ठीक क्यों है। तुम जानते हो कि मुझे काम नहीं मिला, यानी ऐसा काम नहीं मिल सका जिससे मैं अपनी मामूली जरूरतों को ठीक से पूरा कर सकता जब कि मैं कोई भी काम करने को तैयार था। इसका क्या मतलब है ? इसका मतलब यह है कि जितने अच्छे-अच्छे काम है वे सबके सब मालिक लोगों ने हथिया लिये हैं। जिन कामों को करने में उनके आराम में बाधा पहुँचती है आमदनी कम होती है या कष्ट होता है उन्हें छोड़ दिया है हमारे लिए। और वे इतने थोड़े रह गये हैं कि हम सबको काम नहीं मिल सकता। बस इसलिए मुझे काम नहीं मिला, और मुझ जैसे हजारों बेकार हैं और रहेंगे।

यह भी एक मजे की बात है कि कोई तो कहे कि काम के मारे मरने की फ़ुर्सत नहीं और कोई कहे मेरे पास काम ही नहीं। ऐसी हालत में सिवाय काम छीनने के दूसरा रास्ता नहीं है, क्योंकि उसके बिना पैसा नहीं मिलेगा, और बिना पैसे के पेट नहीं भरेगा। आखिर जीवित तो रहना ही है। वह कोई पाप नहीं है। पाप तो भूखों मरना है और वह भी चुप-चाप।

"काम सीधे-साधे छीन लेना मुश्किल है, लेकिन पैसा छीन लेना आसान है। इसलिये पहले पैसा छीनना होगा फिर काम अपने आप हाथ में आ जायगा। जिनके पास काम और पैसा जरूरत से ज्यादा है. इसमें उनका भी भला है और हमारा भी—उन्हें आराम मिलेगा और हमें जिन्दगी। फिर यह तो एक प्रकार का संघर्ष है संघर्ष में उचित—अनुचित का प्रश्न ही कहाँ उठता है।"

तिवारी......"दीख पड़ता है कि तुम कम्युनिस्ट हो गये हो, बिल्कुल कम्युनिस्टों जैसी बातें करते हो। क्यों ? निरंजन—"हरेक भूखा, नंगा इन्सान कम्युनिस्ट होता है, तिवारी ? वैसे मैं कम्युनिष्ट, अमुनिस्ट कुछ नहीं हूँ। मुझे गरज है केवल रोटी कपड़े से।...... इसीलिए मैंने तुम्हारा व्यवसाय अपनाने का निश्चय किया है। अब

सवाल सिर्फ मेरा अपना ही नहीं है मुझ जैसे सबों का है। और मुझे अफसोस है तिवारी की मैं तुम्हारी सलाह नहीं मान सकता।"

उपर्युक्त उद्धरण से लेखक की सजगता का परिचय मिलता है—

युग-जीवन की सारी समस्याओं पर लेखक अपनी धारणा व्यक्त करता है। और युग-जीवन की यथार्थ-वादी समस्या से आंखें भी नहीं मूँद लेता है, बल्कि पात्रों की कम्युनिस्ट परिणति और उसके स्वाभाविक परिवर्तन के बीच जो वास्तविक आधार फलक है, उसे ही उपन्यास का विषय बनाया है। इसीलिए यह रचना प्रश्न चिन्ह है, जो हमें सोचने को विवश करती है जैसा कि मैंने प्रारंभ में ही कहा है। यही भावना इसी कृति का नवीन औपन्यासिक मूल्य भी है, जो आज हिन्दी की अधिकांश कृतियों में गौण रहा करता है, जिससे गत्यवरोध उत्पन्न होता है। यह उपन्यास एक राजनीतिक सवाल भी पैदा करता है, यह कृति शासन की आलोचना न होकर भी शासन से तिवारी और निरंजन के जीवन की उद्भ्रान्त प्ररिणति के लिए जवाब तलब करता है। आज गन्दी राजनीति और गंदे निकम्मे शासन की विशृंखलता के कारण ही भारतीय समाज की इकाई, निरंजन और तिवारी बेकार हैं। युवती लच्छों और निरंजन का मिलन नहीं हो पाता है, वे सिसकते रह जाते हैं। उन्हें अपने जीवन की हत्या स्वयं करनी पड़ती है।

"'उद्भ्रान्त' उन साहित्यकारों के लिए भी एक नया उदाहरण उपस्थित करता है, जो साहित्य को मात्र मनोरंजन का साधन समझते हैं। तिवारी और निरंजन का जीवन एक ओर हमें पर्याप्त मनोरंजन का साधन देता है, तो दूसरी ओर वह हमारी आंखों में उंगलियाँ डालकर जीवन को सही रूप में देखने को विवश भी करता है। आज जो वस्तु, एक लिए मनोरंजन का साधन है, वही दूसरे के लिए एक बहुत बड़ा सबक है।

कुल मिलाकर यह आसानी से कहा जा सकता है कि युग-जीवन की संपूर्ण अभिव्यक्ति करते हुए भी यह एक शुद्ध साहित्यिक रचना है। ऐसी रचना हिन्दी में कम देखने को मिलती है। इसलिये 'उद्भ्रान्त' एक महत्वपूर्ण कृति है। मात्र दो सौ पृष्ट के लघु उपन्यास की भूमिका में युग को बाँध देना बहुत बड़ी चतुराई और कुशल स्थापत्य का कार्य है। केवल पुस्तक की भाषा शैली के संबंध में मैं पुनः भूमिका लेखक की ही

बात दुहराऊँगा—"चुस्त कथनक सुघड़ चरित्र-चित्रण, मनोश शैली, टकशाली भाषा इस पुस्तक की विशेषताएँ हैं।"

हिन्दी के अधकचरे उपन्यास कारों की तरह इसकी भाषा शैली वर्णशंकर और अधकचरी नहीं, वरन् इसमें हिन्दी का श्रेष्ठ 'स्टैन्डर्ड' रूप प्रयोग में आया है. क्योंकि यह एक महत्वपूर्ण रचना है। मात्र शैली के दृष्टिकोण से भी उद्भ्रान्त प्रथम श्रेणी के उपन्यासों की उँचाई को छू लेती है।

इतना ही नहीं इस एक कृति से मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उत्पन्न गत्यवरोध भी समाप्त होता दिखाई पड़ता है। इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए 'साहित्य-संदेश' के विद्वान सम्पादक श्री गुलाब राम जी ने 'उद्भ्रान्त' को मनो वैज्ञानिक उपन्यासों में नया मोड़ उत्पन्न करने वाला एक सफल उपन्यास मानते हुए लिखा है—"व्यक्ति के अहं को सर्वथा स्वतंत्र मानकर ऊहापोरु कराने का युग समाप्त हो चुका। अब व्यक्तिव और समाज का परस्पर घात-प्रतिघात दिखाना ही स्वस्थ दृष्टिकोण हो सकता है···जैन कुमार के 'उद्भ्रान्त' में···यही दृष्टि-कोण मिलता है।" (१९५५)

प्रयोगवादी कविताएँ

हिन्दी में प्रगतिवाद की धारा जब बहने लग गयी, ठीक उन्हीं दिनों कुछ ऐसे कवि भी हुए जिनके ऊपर फ्रायड के 'सेक्स' और स्वप्न-सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा। इन कवियों की कविता में अधिक बौद्धिकता है। यों तो समग्र प्रगतिवादी साहित्य बौद्धिकता का पृष्ठ-पोषक है परन्तु इन 'प्रयोगवादियों (फ्रायडवादी) कविताओं में बौद्धिकता कुछ अधिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य की प्रगतिवादी कबिता में दो धाराएँ हो गयीं—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद (फ्रायडवाद)।

सभी युग में नयी कविता का आविर्भाव एक प्रयोग ही है, फिर भी प्रयोगवादी कविता में कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें हम प्रयोग ही कहना पसन्द करेंगे, क्योंकि कहा नहीं जा सकता कि इस कविता का भविष्य क्या होगा। प्रयोगवादी कविता का सम्बन्ध—जिसे मैंने फ्रायडवाद भी कहा है—सेक्स से विशेष है। प्रयोगवाद मानव के अवचेतन एवं उपचेतन भावका दिग्दर्शन कविता में करता है। उसके काव्य का विषय मनुष्य की विक्षिप्त, प्रच्छन्न, असाधारण एवं सामाजिक विषमताएँ, सादृश्य भावनाएँ ही रहा करती हैं। प्रयोगवादी मनोविश्लेषण में विशेष तत्पर रहा करते हैं।

यों तो इस कविता का जन्म छायावादी कविता के प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ। लेकिन इस कविता का जन्म वस्तुतः हिन्दी में अँग्रेजी कविता को देखकर ही हुआ है। विदेश में इस कविता का प्रारम्भ हांपकिंस, टी० एस० इलियट प्रभृति अँग्रेजी कवियों की कविता से हुआ। गद्य-साहित्य फ जेम्स ज्वायसने इस क्षेत्र में कदम बढ़ाया।

इन कवियों ने अपनी कविता को इस प्रकार अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है तथा उसमें इतनी बौद्धिक धारणाएँ आ गयी हैं कि ये कविताएँ जनसाधारण की चीज नहीं रह गयी हैं। केवल कविता में ही नहीं, ऐसी प्रवृत्ति हम आजकल के गद्य-साहित्य में भी पाते हैं। 'अज्ञेय' का 'शेखर' एक जीवन एवं इलाचन्द्रजोशी की कहानियाँ तथा उपन्यास एवं अन्य लेखकों की आधुनिक कृतियाँ इस मनोविश्लेपण के ठोस उदाहरण हैं। प्रयोगवादी कविता में असाधारण नूतनता है जो

न मुझे छायावादी और न प्रगतिवादी कविता में मिलती है और न हिन्दी साहित्य के किसी अन्य युग की कविता में।

अज्ञेय की कविता एवं 'तारसप्तक' के कवियों की कविता में मुझे प्रयोगवादी का जीवन-स्पदंन मिलता है। इन प्रयोगबादी कवियों में वैयक्तिकता प्रधान हो उठी है। ये प्रयोगवादी कुछ ऐसी बात कह जाते हैं जो शायद उन्हीं के समझने योग्य है। मेरा यह कथन प्रयोगवाद के सभी कवियों के विषय में दृढ़ नहीं, कुछ इसके अपवाद भी हो सकते हैं। इन कवियों की कविताओं में जो सबसे अखड़नेवाली बात है—वह क्रान्ति से मुख मोड़ना है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि इन कवियों ने समाज से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है, पर इन कवियों ने जीवन-संघर्ष के पथपर न बढ़ कर केवल मानसिक संघर्ष को ही रूप देना चाहा है जो जीवन से एक प्रकार का पलायन ही होगा! ये कवि कविता में कुछ ऐसे विषयों का समावेश होने देना चाहते हैं जो लोकमत से दूर रह सकती है। जिसका प्रयोग कविता में एक प्रकार का व्यंग्य उपस्थित कर देता है। इन कवियों की कविता पढ़कर हम पूर्ण संतुष्ट नहीं हो पाते। मुझे ऐसा लगता है कि कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें इन कविताओं में हम नहीं पाते हैं। इसका कारण शायद रागात्मक तत्व को बौद्धिक माध्य द्वारा। व्यक्त किया जाना ही है। इसके अतिरिक्त ये कवि कविता के वाह्य रूप में भी कुछ नवीन प्रयोग कर रहे हैं। इस कविता के अग्रणी 'अँग्रेजी' धर्मवीर भारती माचवे, भवानी प्रसाद मिश्र, गिरजा कुमार, भारत भूषण तथा ''तार सप्तक' के कवि है।

इन कवियों की कविता के कुछ उदाहरण यहाँ देता हूँ—

❀ ❀ ❀ ❀

'तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल'

—भारत भूषण

❀ ❀ ❀ ❀

यह सब एक विराट व्यंग्य है,
'मैं हूँ सच ओ चा का प्याला'

—माचवे

इन प्रयोगवादी कवियों के अग्रणी भी वे ही कवि हैं जिन्होंने प्रगतिवाद की भी कविताएँ लिखी हैं। ऐसी कविताएँ विशेषतः हंस, प्रतीक-नया साहित्य इत्यादि मासिक पत्रों में छपती रही है।

इन दिनों विहार के कतिपय कवि भी इस प्रयोगवाद से प्रभावित हुए हैं जिनमें श्री नलिनविलोचन शर्मा, श्री केसरीकुमार सिंह तथा श्री नरेश के नाम उल्लेखनीय हैं। ये तीनों व्यक्ति हिन्दी-साहित्य के परिचित विद्वानों में से हैं। ये ही तीन कवि विहार के प्रयोगवाद के अग्रणी हैं। कतिपय साहित्यिक मित्रों एवं विद्वानों ने इन तीनों व्यक्तियों को ही प्रयोगवाद का अग्रणी मान लिया है, लेकिन उनकी शंका का समाधान मेरे उपर्युक्त विवेचन से शीघ्र हो जायगा। आलोचकों ने इन नवीन प्रयोगवादी कविताओं का क्षेत्र संकुचित कर इसे हास्य रूप में नकेनवाद भी कहना प्रारम्भ कर दिया है, (नकेन = न, के, न; न—नलिनविलोचन शर्मा, के—केसरी कुमार, न—नरेश)।

इन कवियों का काव्य-दर्शन भी वही है जैसा मैंने उल्लेख किया है फिर भी इन लोगों की कविताओं में कुछ ऐसी निराशा परिलक्षित होती है जो अपेक्षित नहीं। मेरे एक बन्धु ने कुछ दिन पहले कहा था— इन कवियों की कविता का विषय विशेषतः मृत्यु ही रहा करता है। जैसा फ्रान्स में कुछ दिनों तक (करीब सौ पचास वर्ष) ऐसी कविताओं का प्रचार होता रहा लेकिन वह चल न सका।

वही बात मैं इन कवियों में भी पाता हूँ मृत्यु के प्रति आकर्षण जो शायद फ्रांसीसी कवियों की देन है—

ढह गये, इस जिन्दगी के महत् क्षण दो चार
मेरी मौत के अगणित।

❀ ❀ ❀ ❀

मरण तू लौट जा घर आज
घाटी हो रही जरखेज

—केसरी

❀ ❀ ❀ ❀

मर गर नहीं— —नलिन
पर नदी आज केवल है',
शीतल-निर्मल-अथाह हो,
होने से क्या, प्रवाह ही जो न हो
स्पंदित लहरें न हो।
मानों मर गयी नहीं।'

(ज्योत्स्ना' मासिक पत्र, पटना से)

—नरेश

आगे की पक्तियों में कवि मानों अपनी कविता के विषय में सफाई पेश करते हुए लिखता है—

'प्रिय,
मैं तुम्हें गीत सुनाउँगा,
इक गीत सुनाऊँगा,
प्यार का अभिसार का।
क्षण-क्षण, प्रतिपल'
अर्थहीन, बेमेल, अनर्गल
जो होगी कविता
रबड़छंद में मत्त गयन्द में
शब्द-शब्द में चित्र विचित्र
वह गीत सुनाऊँगा

—नरेश

चिन्ह किये गये शब्दों पर ध्यान देंगे। इन शब्दों में ही इन प्रयोगवादियों का सारा दर्शन है।

ये प्रयोगवादी कविताएँ सर्वसाधारण की चीज नहीं है। इन कवियों ने अपने अध्ययन और मननका इन कविताओं में पूर्णपरिचय दियाहैं। जिस प्रकार इलियट अपनी कविता में कभी बाइबिल के कभी विज्ञान के कभी ज्योतिष शास्त्र के और कभी इसे विषयों के शब्दों का प्रयोग जहाँ तहाँ कर दिया करता है ठीक वही बात इन प्रयोगवादियों के साथ भी है। इलियट की कविता का प्रभाव इन लोगों पर पूरा पड़ा है—

क्षितिज की रेतपर
रक्ताभ छींटे
हो चले विवर्ण पीले
मूसा मर गया शायद।

(आषाढ़स्य प्रथम दिवसे)

—केसरी

इसी असाधारण उपमाओं से मिलती जुलती ये इलियट की पंक्ति पढ़िये—

"Let us go then you & I when evening is spread out the sky.
Like a patient etherised upon the table."

(संध्या आकाशपर उसी प्रकार लेटी है जिस प्रकार आपरेशन का टेबुलपर बेहोशमरीज)

इन प्रयोगवादी कवियों स्वछन्द में ही कविताएँ लिखनी अधिक उपयुक्त समझीं, शायद अपनी भावनाओं को पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति देने के लिए। जैसा मैं पहले ही लिख चुका हूँ ये कवि कुछ ऐसे शब्दों नामों का प्रयोग अपनी कविताओं में करते हैं जिन्हें ठीक-ठीक समझने के लिए इतिहास के पन्नों को उलटना पड़ता है।

स्वछन्दसे प्रेम

इन प्रयोगवादियों की भाषा आदि रूखड़ी हुआ करती है, जो दिमाग से फौरन टकरा जाती है लेकिन हृदय को इससे आनन्द नहीं मिलता।

सब मिलाकर मैं इन कविताओं की निन्दा नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी कविता भी मेरे 'जीवन की व्याख्या' के लिए आवश्यक है। लेकिन एक बात मैं फिर दुहराऊँगा। वह है इन कवियों की दुर्बोध अभिव्यक्ति जनजीवन की उपेक्षा। जन साधारण इन कविताओं से अधिक दूर है और शायद रहेगा भी, जबतक जनता का मानसिक एवं आर्थिक स्तर ऊँचा नहीं हो जाता। क्योंकि इन कविताओं का सम्बन्ध वैज्ञानिक मनो-विश्लेषण से विशेष रूप में है जो शास्त्रीय वस्तु है, हृदय की नहीं। फिर भी इस कविताधारा का भविष्य उज्ज्वल है, अगर ये कवि अपनी कविता को अधिक सुबोध बनाने एवं निराशा के चंगुल से छुड़ाने में समर्थ हो सके तो।

आज इसी निराशावादी मनोविश्लेषण का अँग्रेजी कविता-सहित्य में भी उथल-पुथल मचा हुआ है। गत् दो महायुद्धों से आक्रान्त मानवता आज दम तोड़ रही है। एक ओर जीवन की समस्याएँ हैं दूसरी ओर तृतीय महायुद्ध की विभीषिका की भयंकर आशंका! अँग्रेजी का प्रसिद्ध कवि इलियट अपने जीवन को चाय की चम्मच से नापना चाह रहा है। साहित्य, राजनीति इत्यादि सभी विषय पर आज प्रश्नवाचक चिन्ह मड़रा रहे हैं। इस घुटन की स्थिति में कवि भी पड़ा हैं और

उसकी अभिव्यक्ति भी वह निराशा भरे शब्दों में ही करना है। ऐसी स्थिति अधिकतर पूँजीवादी देशों की एवं उत राष्ट्रों की है जो अपने को स्वतंत्र मानते हैं। (पर वे वास्तव में स्वतंत्र नहीं)। एक निश्चित जीवन दर्शन के अभाव में उसका कवि एक अनाथ बालक के रूप में इधर-उधर ठोंकरें खा रहा है, जिसे को भी अपने पास फटकने नहीं देता। दूसरी ओर कतिपय राष्ट्र जीवन का वास्तविक आनन्द ले रहे हैं क्योंकि उन्हें एक निश्चित जीवनदर्शन की प्राप्ति हो गयी है। वे बढ़ रहे हैं और बढ़ते रहेंगे। वहाँ कलाकार मानवता का नियामक है। इसलिए जबतक भारत का प्रयोगवादी कवि भी मानवता का नियामक नहीं बनता उसे चैन नहीं। तभी मानव उसकी कविता से लाभान्वित भी हो सकता है।

प्रगतिवाद : विचार और विवेचन

प्रगतिवाद जैसी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर विभिन्न दृष्टिकोण से विभिन्न प्रश्न निबंधों, पुस्तकों, भाषणों एवं रेडियो द्वारा उठाये गये हैं, उनमें से अधिकांश प्रश्न समानार्थी ही हैं। उनमें से कुछ प्रमुख विवादास्पद प्रश्नों के उत्तर इस निबंध में देने की चेष्टा की गई है।

द्विवेदी कालीन साहित्य की प्रतिक्रिया स्वरूप छायावाद का जन्म हुआ। छायावाद की पलायन-प्रवृत्ति जब आगे बढ़ गयी तब प्रगतिवाद का जन्म हुआ। "अतः प्रगतिवाद को सुअवसर प्राप्त हुआ और उसने छायावाद पर पलायनवादिता का आरोप लगाया।" प्रायः लेखकों की यह उक्ति है।

क्या सचमुच प्रगतिवाद का जन्म केवल छायावाद की पलायन–प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ, अथवा नयी-नयी समस्याओं के उठने से ? यह प्रश्न विवाद ग्रस्त है। यदि केवल छायावाद की पलायन प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही प्रगतिवाद का जन्म होता तो यह बहुत दिन पहले हिन्दी साहित्य में हो गया होता; जिन दिनों रीतिकालीन कवि जीवन से भागकर केवल शासकों की प्रशंसा में अपनी काव्य-रचना करते थे, वह भी एक पलायन था। उस समय भी नयी समस्या हिन्दू-मुसलमानों का युद्ध तथा विदेशियों का अत्याचार और सामन्तों की बर्बरता मौजूद थी जिसने भूषण जैसे वीर रस के कवि को जन्म दिया। लेकिन भूषण की कविता को हम प्रगतिवादी कविता नहीं कह सकते क्योंकि वह शिवाजी जैसे सामन्त की प्रशंसा में लिखी गयी थी, जिसका काम था राज्य करना, वर्गहीन समाज की स्थापना करना नहीं (भले ही शिवाजी को हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति हो) लेकिन वह सहानुभूति जन कल्याण की नहीं थी, शासन कायम करने की सहानुभूति थी। पर उस समय के कवियों के दिमाग में यह बात नहीं समायी थी जिस कारण प्रगतिवाद का जन्म नहीं हो सका। प्रगतिवाद का जन्म वस्तुतः विश्व में मार्क्स, एंजेल्स इत्यादि जन नायकों के सिद्धान्तों और जन-कल्याण संबंधी भावना तथा पूँजीवाद के चंगुल से मान-

वता को मुक्ति दिलाने के लिये ही हुआ। यह आन्दोलन केवल गद्य में ही नहीं पद्य में भी हुआ।

लेखकों ने आगे यह लिखा—"कहा जाता है कि प्रगतिवाद ने कोई प्रथम श्रेणी की साहित्यिक प्रतिभा नहीं उत्पन्न की।" लेखकों को इसमें संदेह भी नहीं है। परन्तु मेरे विद्वान लेखकों ने प्रथम श्रेणी के साहित्य का क्या मापदण्ड रखा है? यह बतलाने की चेष्टा नहीं की और न वे उस संदेह का ही निवारण कर सके जिस कारण प्रथम श्रेणी का साहित्य प्रगतिवाद में नहीं है। प्रेमचन्द के 'गोदान', 'मंगल सूत्र' इत्यादि, गोर्की के 'मदर', चेखव का साहित्य तथा रवीन्द्र का साहित्य आदि, जिस कारण आज समस्त रूसी साहित्य के अंग बन चुके हैं; क्या हम इन्हें प्रगतिवाद की प्रथम श्रेणी की रचना नहीं कह सकते हैं? लेकिन आगे कुछ लेखकों ने यह बतलाया—"इसने हमारी काव्य-धारा का जीवन केन्द्रित करने में पर्याप्त योग दिया।" जब हमारे जीवन को केन्द्रित करने में प्रगतिवाद ने योग दिया तब उसके खोटेपन का ढोल बजाना तो स्वयं अपनी भूल पर हँसना है।

लेखकों का नया आक्षेप यह भी है कि 'प्रगतिवाद' जीवन के केवल वर्गवादी दृष्टिकोण को साहित्य का प्रतिपाद्य विषय मान कर एक भयानक भूल का शिकार हुआ है। यह कोई भूल की बात नहीं है, इसे सभी प्रगतिवादी जानते हैं। लेकिन आज के युग में समन्वय की भावना भारतीय साहित्य को प्रगतिशील बनाने में असफल रही। मैं अपने इस कथन का समर्थन प्रगतिवादी विचारक डा० राम विलास शर्मा के शब्दों में करूँगा—"अगर द्वन्द्वात्मक पद्धति से पूँजीवादी मनोविज्ञान का मेल प्रगतिशील विचार-धारा से हो सकता तो सोवियत लेखक बीस साल से उसके खिलाफ लगातार संघर्ष न करके उससे समन्वय कर चुके होते।" और शर्मा जी की उक्ति का समर्थन आज स्वतंन्त्र भारत के लेखकों की समन्वय-भावना को सामने रख कर आप अच्छी तरह देख सकते हैं। यही समन्वय की भावना अपना कर पंत प्रगतिवादी न बन सके। उन्होंने आगे कदम बढ़ाया सही, लेकिन उससे विशेष वे पीछे हटे, जिस कारण आज उनके जीवन-दर्शन को समझना कठिन हो गया है।

जिस कला की दुहाई मेरे विद्वान लेखक देते हैं उसका प्रयोग मानव को पंगु और शराब का नशा पिला कर बेहोश बनाने में किया

जा रहा है। आज का पूँजीवादी समर्थक यह चाहता है कि शुद्ध साहित्यिक कला कृति का हौवा खड़ा कर मनुष्य को उसी गहरी नींद में सोने दें, बल्कि उसे फिर से सुलाया जाय, जिस नींद में आज तक युग सोता रहा ताकि वह जाग न सके और वर्ग-संघर्ष से अपना मुँह मोड़ ले।

मैं लेखकों के इस कथन का समर्थन करता हूँ कि साहित्य को कृत्रिम नियमों और वादों के बन्धन में बाँधना उसकी हत्या करना है। लेकिन जिस साहित्य से जन-जीवन का कल्याण न हो वह साहित्य रद्दी कागजों के टुकड़ों के अलावा और क्या हो सकता है? प्रगतिवादी जन कल्याण के इस महान् वैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा नहीं करता। यही कारण है कि जब उपयोगिता वाद की खोज प्रगतिवादी साहित्य में करता है तब मेरे लेखक उसे असाहित्यिक तत्त्वों का आधार कह कर उससे घृणा करते हैं। साहित्य का कार्य जीवन की व्याख्या है—केवल ऐसे जीवन की व्याख्या नहीं जिस जीवन में आनन्द ही हो, कल्पना ही हो, यथार्थ को भी देखना पड़ेगा।

मेरे लेखकों ने मान्य साहित्यिकों के कथन को सामने रक्खा है—प्रगतिवाद काव्य में मार्क्सवाद का अक्षरशः अनुवाद चाहता है। प्रगतिवादी आलोचकों की सबसे बड़ी चिन्ता यह जान लेना होता है कि लेखक विशेष का राजनीतिक मतामत क्या है? वह बड़े धैर्य से इस मतामत की घोषणा की प्रतीक्षा करता है। तुम लिख रहे हो और कलात्मक ढंग से लिख रहे हो यह ठीक है—उसकी परीक्षा बाद में होती रहेगी। लेकिन तुम पहले यह बताओ कि तुम कौन हो शत्रु अथवा कामरेड, पूँजीवाद के समर्थक हो या साम्यवाद के, बोलो?

लेकिन विद्वानों ने जिन बातों को कहने की चेष्टा की है, उसका मूल्यांकन लेखकों को स्वयं करना चाहिए। क्या ऐसी असंगत बात को सिद्ध करने के लिए किसी प्रगतिशील लेखक की लेखनी का उद्धरण लेखक नहीं दे सकते थे? अगर नहीं, तो ये आक्षेप गलत हैं। केवल उन्होंने कुछ सुन लिया उसे लिख दिया। क्या ये विद्वान् प्रगतिशीलता के सिद्धान्तों की आलोचना करने में भूल नहीं कर सकते? क्या ये लेखक अपनी पुस्तकों की कटु आलोचना पढ़ कर प्रगतिवाद के प्रति विष वमन नहीं कर सकते?

आगे फिर लेखक ने लिखा है कि "व्यक्ति ही मौलिक सत्ता है। समाज व्यक्ति का ही प्रतिबिम्बित रूप है।" यह तो सभी जानते हैं, लेकिन ऐसे व्यक्ति की मौलिक सत्ता का कोई भी मूल्य नहीं जिस दृष्टि-कोण से लेखक ने उसे दर्शाया है। "साहित्य-सेवा व्यक्तियों या गुटों के निजी लाभ का साधन नहीं बन सकती, वल्कि वह भी कि आमतौर से यह साहित्य-सेवा समूचे सर्वहारा उद्देश्य से स्वतंत्र कोई व्यक्तिगत उद्देश्य नहीं हो सकता।"—डा० राम विलास शर्मा। लेखकों के कथन का आशय इस अनुच्छेद में केवल यही हो सकता है कि वर्ग मूलक समाज कायम रहे और उसके अन्तर में व्यक्तिवाद का बोलबाला अथवा पूँजीवाद का प्रतिक्रियावादी साहित्य वर्तमान रहे, यह तो कोरी सा-म्राज्यवादी आलोचना ही है, जिसे आज का कोई भी प्रगतिशील मानव मानने को तैयार नहीं होगा।

लेखकों का यह आक्षेप—"प्रगतिवाद साहित्य के व्यापक क्षेत्र को संकुचित कर देता है। आर्त्त सर्वहारा की करुण कहानी एवं उसकी समस्त मानवोचित प्रतिक्रिया साहित्य का उपजीव्य अवश्य होना चाहिए, किन्तु साहित्यकार के कर्त्तव्य की इतिश्री यहीं नहीं हो जाती।" पहली बात तो यह है कि कोरी संवेदनावाद प्रगतिवाद नहीं है जिसे कोई भी प्रगतिवादी विचारक नहीं मान सकता। प्रगतिवाद तो उस व्यव-स्था पर आघात करना चाहता है, जिस कारण सर्वहारा की आर्त-पुकार सुनाई पड़ती है। "क्योंकि प्रगतिवाद उस व्यवस्था का नाश कर नवीन व्यवस्था का पक्षपाती है, जिसमें भारत का जन-जन स्वतंत्र और सुखी होगा। मानव स्वाधीनता के उस संघर्ष में दुःख-सुख, हास-रुदन, घृणा-प्रेम आदि सभी मानवोचित भावनाओं तथा अनुभूतियों के उत्कर्ष के लिए पूरा अवसर हो। इसलिए प्रगतिवादी साहित्य की रचना जो वैविध्य पा सकता है वह केवल व्यक्ति के अपने रोने-गाने में कभी आ भी नहीं सकता।"—अमृत राय। इससे भी आगे बढ़ कर प्रगतिवाद को सार्थक रूप में देखने वाला चीन का नायक कुओमोजो कहता है—"हमें कलात्मक सौन्दर्य और कौशल को भी उन्नत करना चाहिए और उसे उन्नत करने में हमें आलोचनात्मक दृष्टि से दूसरे देशों की साहित्यिक और कलात्मक विरासत को ठुकराना न चाहिए और न अंधों की तरह उनकी पूजा और नकल ही करनी चाहिए।" मार्क्सवाद भी विना किसी

शक शुबहा के साहित्य में ऊँचे दर्जे के कलात्मक सौन्दर्य की माँग करता है।

आगे विद्वान् लेखकों ने लिखा है—"साहित्य हमें जिस भावलोक में पहुँचा देता है, वहाँ भौतिक जगत् के सारे भेद-भाव भूल जाते हैं। वहाँ न मजदूर-मजदूर रह जाते हैं और न पूँजीपति-पूँजीपति ही।"

विरोधियों ने कभी-कभी प्रगतिवाद का जोरों से गला दबाने की चेष्टा की है।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रगतिवाद: शंका और समाधान

'कल्पना' के अक्टूबर अंक में प्रकाशित श्रीगिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' लिखित 'प्रगतिवाद' शीर्षक निबन्ध पढ़ रहा था। निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह स्वतन्त्र निबन्ध श्री मन्मथ नाथ गुप्त और डा० आर्येन्द्रशर्मा की आचोचना-प्रत्यालोचना की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। और तब बरबस मेरा ध्यान डा० शर्मा की प्रत्यालोचना 'प्रगतिवाद का स्पष्टीकरण' (कल्पना, जून १९५२) की ओर पुनः आकृष्ट हुआ।

वस्तुतः 'गिरीश' जी और डा० शर्मा दोनों के विचार बहुत-कुछ विवाद ग्रस्त हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि डा० शर्मा ने सम्भवतः प्रगतिवादी साहित्य का ईमानदारी से (एकविरोधी आलोचक के रूप में ही क्यों न हो) अध्ययन करने का कष्ट नहीं उठाया। ऐसा मैं इसलिए भी कह रहा हूँ। क्योंकि कुछ स्थल (इनके निबन्धों के) तो बिलकुल खामख्याली से प्रतीत होते हैं, कुछ कपोल-कल्पना पर आधारित हैं और कुछ का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं है। उदाहरण स्वरूप एक स्थान पर डा० शर्मा लिखते हैं—"आजतक जितने महापुरुष हुए हैं, जितने उत्कृष्ट साहित्यिक ग्रन्थ हैं, वे भी सच्चे प्रगतिवादी थे।" देखिए डाक्टर साहब की धारणा कितनी भ्रान्त है। आज जब कि प्रगतिवाद पर काफी बहस हो चुकी है और उसने अपना स्वतन्त्र स्थान साहित्य में बना लिया है (भले ही उसका दृष्टिकोण गलत या सही हो), उस अवस्था में डा० शर्मा ने कैसे एक ही लाठी से सबको हाँकना पसंद किया। वास्तव में

आगे फिर लेखक ने लिखा है कि "व्यक्ति ही मौलिक सत्ता है। समाज व्यक्ति का ही प्रतिविम्बत रूप है।" यह तो सभी जानते हैं, लेकिन ऐसे व्यक्ति की मौलिक सत्ता का कोई भी मूल्य नहीं जिस दृष्टि-कोण से लेखक ने उसे दर्शाया है। "साहित्य-सेवा व्यक्तियों या गुटों के निजी लाभ का साधन नहीं बन सकती, वल्कि वह भी कि आमतौर से यह साहित्य-सेवा समूचे सर्वहारा उद्देश्य से स्वतंत्र कोई व्यक्तिगत उद्देश्य नहीं हो सकता।"—डा० राम विलास शर्मा। लेखकों के कथन का आशय इस अनुच्छेद में केवल यही हो सकता है कि वर्ग मूलक समाज कायम रहे और उसके अन्तर में व्यक्तिवाद का बोलबाला अथवा पूँजीवाद का प्रतिक्रियावादी साहित्य वर्तमान रहे, यह तो कोरी साम्राज्यवादी आलोचना ही है, जिसे आज का कोई भी प्रगतिशील मानव मानने को तैयार नहीं होगा।

लेखकों का यह आक्षेप—"प्रगतिवाद साहित्य के व्यापक क्षेत्र को संकुचित कर देता है। आर्त्त सर्वहारा की करुण कहानी एवं उसकी समस्त मानवोचित प्रतिक्रिया साहित्य का उपजीव्य अवश्य होना चाहिए, किन्तु साहित्यकार के कर्त्तव्य की इतिश्री यहीं नहीं हो जाती।" पहली बात तो यह है कि कोरी संवेदनावाद प्रगतिवाद नहीं है जिसे कोई भी प्रगतिवादी विचारक नहीं मान सकता। प्रगतिवाद तो उस व्यवस्था पर आघात करना चाहता है, जिस कारण सर्वहारा की आर्त-पुकार सुनाई पड़ती है। "क्योंकि प्रगतिवाद उस व्यवस्था का नाश कर नवीन व्यवस्था का पक्षपाती है, जिसमें भारत का जन-जन स्वतंत्र और सुखी होगा। मानव स्वाधीनता के उस संघर्ष में दुःख-सुख, हास-रुदन, घृणा-प्रेम आदि सभी मानवोचित भावनाओं तथा अनुभूतियों के उत्कर्ष के लिए पूरा अवसर हो। इसलिए प्रगतिवादी साहित्य की रचना जो वैविध्य पा सकता है वह केवल व्यक्ति के अपने रोने-गाने में कभी आ भी नहीं सकता।"—अमृत राय। इससे भी आगे बढ़ कर प्रगतिवाद को सार्थक रूप में देखने वाला चीन का नायक कुओमोजो कहता है—"हमें कलात्मक सौन्दर्य और कौशल को भी उन्नत करना चाहिए और उसे उन्नत करने में हमें आलोचनात्मक दृष्टि से दूसरे देशों की साहित्यिक और कलात्मक विरासत को ठुकराना न चाहिए और न अंधों की तरह उनकी पूजा और नकल ही करनी चाहिए।" मार्क्सवाद भी विना किसी

शक शुबहा के साहित्य में ऊँचे दर्जे के कलात्मक सौन्दर्य की माँग करता है।

आगे विद्वान् लेखकों ने लिखा है—"साहित्य हमें जिस भावलोक में पहुँचा देता है, वहाँ भौतिक जगत् के सारे भेद-भाव भूल जाते हैं। वहाँ न मजदूर-मजदूर रह जाते हैं और न पूँजीपति-पूँजीपति ही।"

विरोधियों ने कभी-कभी प्रगतिवाद का जोरों से गला दबाने की चेष्टा की है।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रगतिवाद: शंका और समाधान

'कल्पना' के अक्टूबर अंक में प्रकाशित श्रीगिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' लिखित 'प्रगतिवाद' शीर्षक निबन्ध पढ़ रहा था। निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह स्वतन्त्र निबन्ध श्री मन्मथ नाथ गुप्त और डा० आर्येन्द्रशर्मा की आचोचना-प्रत्यालोचना की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। और तब बरबस मेरा ध्यान डा० शर्मा की प्रत्यालोचना 'प्रगतिवाद का स्पष्टीकरण' (कल्पना, जून १९५२) की ओर पुनः आकृष्ट हुआ।

वस्तुतः 'गिरीश' जी और डा० शर्मा दोनों के विचार बहुत-कुछ विवाद ग्रस्त हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि डा० शर्मा ने संम्भवतः प्रगतिवादी साहित्य का ईमानदारी से (एकविरोधी आलोचक के रूप में ही क्यों न हो) अध्ययन करने का कष्ट नहीं उठाया। ऐसा मैं इसलिए भी कह रहा हूँ। क्योंकि कुछ स्थल (इनके निबन्धों के) तो बिलकुल खामख्याली से प्रतीत होते हैं, कुछ कपोल-कल्पना पर आधारित हैं और कुछ का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं है। उदाहरण स्वरूप एक स्थान पर डा० शर्मा लिखते हैं—"आजतक जितने महापुरुष हुए हैं, जितने उत्कृष्ट साहित्यिक ग्रन्थ हैं, वे भी सच्चे प्रगतिवादी थे।" देखिए डाक्टर साहब की धारणा कितनी भ्रान्त है। आज जब कि प्रगतिवाद पर काफी बहस हो चुकी है और उसने अपना स्वतन्त्र स्थान साहित्य में बना लिया है (भले ही उसका दृष्टिकोण गलत या सही हो), उस अवस्था में डा० शर्मा ने कैसे एक ही लाठी से सबको हाँकना पसंद किया। वास्तव में

प्रगतिवाद कहने से डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, शिवदानसिंह, रामविलास शर्मा, अमृतराय, प्रकाशचन्द्रगुप्त, यशपाल, नरेन्द्रशर्मा, राहुल इत्यादि विद्वानों और कृष्णचन्द्र के शब्दों में उस साहित्य का बोध होता है, जिसकी परिभाषा निम्न लिखित है—"प्रगतिवादी साहित्य सच्चे अर्थों में तभी प्रगतिवादी हो सकता, जबकि वे अत्यन्त स्पष्ट रूप में न केवल भारत के जन-साधारण; प्रत्युत् संसार भर के जन-साधारण के लिए एक बौद्धिक, तार्किक, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से समाजवादी क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव करें। समाजवाद मानवता का अगला पग है।" (काँटे—कृष्ण चन्द्र)

ऐसे कई उदाहरण दिए जासकते हैं। क्या डा० शर्मा इस आधारपर यह मान सकते हैं कि उनके तथाकथित प्रगतिवादी महापुरुष समाजवादी क्रान्ति या मार्क्सीय दृष्टिकोण के समर्थक थे? संभवतः नहीं। इसीलिए उनके प्रगतिवादी महापुरुष प्रगतिवादी नहीं स्वभावतः प्रगतिशील थे। प्रेमचन्द ने भी कहा था—"साहित्यकार या कलाकार मेरे विचार से स्वभावतः प्रगतिशील होता है।" पर जब किसी की स्वाभाविक वृत्ति उचित दिशा की ओर विकसित नहीं होती है, तब वह प्रतिक्रियाशील हो जाती है। और जब वह जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करता है, वैज्ञानिक दृष्टि से आँखें खोल कर अपने जीवन और संसार को देखता है, पहचानता है, तब स्वभावतः प्रगतिवाद की ओर जाता है। शायद कृष्णचन्द्र ने ही लिखा है कि प्रेमचन्द को, अवनति की ओर ले जाने वाली शक्ति का शीघ्र अनुमान हो गया, पर पहचानने में समय लगा और टैगोर को तो उससे भी अधिक समय लगा था। कृष्णचन्द्र के इस विचार की सचाई को प्रेमचन्द और टैगोर दोनों के साहित्य का क्रमबद्ध अध्ययन करने पर जाना जा सकता है।

एक दूसरा प्रश्न है—डा० शर्मा लिखते हैं—"मन्मथ जी से मैं इस हद तक सहमत हूँ कि बहुत से लेखकों ने प्रगतिवाद का पल्ला छोड़ दिया। उसके लिए प्रगतिवाद के शिविर के लोगों को आत्म आलोचना करनी चाहिए। किन्तु आत्म-आलोचना करता कौन है?"

मुझे दुःख हुआ इन पंक्तियों को पढ़कर कि डा० शर्मा जैसे विद्वान् जागरूक व्यक्ति भी पूरी जानकारी के साथ फैसला नहीं दिया करते। प्रगतिवादी लेखकों ने जिस ईमानदारी से अपनी आत्म-आलोचना की है, शायद उतनी ईमानदारी से हिन्दी-साहित्य-धारा के किसी भी लेखक ने

नहीं की है।* हाँलाकि आत्म-आलोचना के इस अर्से में प्रगतिवाद का कुछ कम नुकसान नहीं हुआ। पंत ने भी छायावाद के संबंध में आत्म-आलोचना की थी, किन्तु उसमें ऐसी ईमानदारी कहाँ?

इसके अतिरिक्त १६५१ के नवयुग में प्रकाशित डा० रामविलास शर्मा के निबन्धों का जो उत्तर डा० रांगेय राघव इत्यादि ने दिया था, वह क्या आत्म-आलोचना नहीं है? हंस की पुरानी फाईल उलटिए (सन् ५० या ५१ की), आत्म-आलोचना से भरी पड़ी हैं। प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक श्री शिवदान सिंह चौहान का 'आलोचना' में प्रकाशित सम्पादकीय लेख पढ़ें. (विशेषरूप से अंक-१ और ४) यह क्या आत्म-आलोचना नहीं? फिर कैसे एक जिम्मेदार पत्र के सम्पादक डा० शर्मा कहते हैं—"आत्म-आलोचना करता कौन है?"

आज जब पुनः उनकी (डा० शर्मा की) प्रत्यालोचना मेरे सामने है, तो उसे पढ़कर यही प्रतीत होता है कि उनकी पंक्ति-पंक्ति विवाद-ग्रस्त है। उस पर बहसें की जा सकती हैं। आगे वे लिखते हैं—'साहित्य की भूख मानसिक भूख है, उसे शारीरिक आवश्यकताओं के क्षेत्र तक सीमित नही रक्खा जा सकता" लेकिन मानसिक किस अर्थ में? मानसिक भूख क्या कोई ऐसी चीज है, जिसके अभाव में मनुष्य जी नहीं सकता? डा० शर्मा इसका उत्तर सम्भवतः यहीं देंगे कि इस भूख में मारने की शक्ति नहीं है। अगर मारने की शक्ति रहती है तो एक मजदूर, जो दिन-भर परिश्रम करता है और संध्या समय घर लौट आता है, उसे भी साहित्य पढ़ना ही पड़ता। एक सेठ जो गद्दी पर चुपचाप पड़ा रहता है और जिसका दैनिक अखबार भी मुनीम ही पढ़ा करता है, वह तो कब का मर गया होता। लेकिन ऐसा कभी होता नहीं। फिर मानसिक भूख क्या चीज होती है? मेरे विचार से मनुष्य कुछ जानना चाहता है, कुछ बोलना और सोचना चाहता है। इसीलिए वह साहित्य पढ़ता है। साहित्य से चेतना आती है। मनुष्य सामाजिक गुण-अवगुण का सब विचार साहित्य की मूलधारा के माध्यम से कर पाता है।

डा० शर्मा की पंक्ति का दूसरा पहलू—"साहित्य को शारीरिक आवश्यकताओं के क्षेत्र तक सीमित नहीं रखा जा सकता!" भी कम अवैज्ञानिक नहीं! मैं इस संबन्ध में अमृतराय को उद्धृत करूँ—

* देखें सम्पूर्ण पुस्तक 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा'—अमृतराय

"विश्व-साहित्य के उद्भव और विकास का सिंहावलोकन करने के पश्चात् मार्क्स ने सिद्धान्त बनाया कि मानव-मस्तिष्क समाज के आर्थिक सम्बन्धों, उत्पादन के सम्बन्धों से निर्दिष्ट होता है।" नयी समीक्षा एक पंक्ति डा० शर्मा की और है—"विज्ञान ने हमारे लिए भौतिक सुखों के साधन भी उपस्थित किए हैं' (यद्यपि उसने विनाश के साधन भी उपस्थित किए हैं!) डा० शर्मा से मैं पुनः निवेदन करूँगा कि वे गंभीरता से सोचें कि क्या वस्तुतः विज्ञान ने विनाश के साधन उपस्थित किए हैं? क्या स्वयं विज्ञान ही उड़कर हिरोशिमा की महानगरी को ध्वंस न कर सका था? नहीं, विज्ञान इसके लिए दोषी नहीं है। दोषी हैं, उसके व्यवहार कर्त्ता हम और आप! इस विश्व में तो सब दिनों से विष और अमृत दोनों थे, रहेंगे भी। पर यह तो मनुष्य की चेतना पर निर्भर करता हैं कि वह किसे चुने—विष या अमृत?

अब 'गिरीश' जी के कुछ विचारों पर हल्की दृष्टि डालें। 'गिरीशजी' ने एक स्थान पर लिखा है—"क्या कार्ल मार्क्स द्वारा अविष्कृत प्रगतिवाद किसी ऐसे युग में भी कार्यकारी हो सकेगा, जब अन्न, वस्त्र, निवास आदि की समस्याएँ हल हुई रहेंगी तथा फिर उसी प्रकाश को नए सिरे से खोजने की आवश्यकता पड़ जायगी, जिसके लिए राजपाट तथा सुन्दरी स्त्री सब-कुछ त्याग कर महात्मा बुद्ध वनवासी हुए थे?" निस्संदेह 'गिरीश' जी का संकेत उस 'अजर अमर सत्ता' की ओर है, जिसकी दुहाई भारतीय महात्मा देते थकते नहीं। किन्तु 'गिरीश' जी को तो साधारण-सी बात स्वयं बिना शंका के समझ लेनी चाहिए, क्योंकि आज सोवियत शासन के छत्तीस वर्ष हो गए, पर वहाँ उस प्रकाश की ओर शायद ही कोई भूल कर भी ध्यान देता है, जिसकी अनिवार्यता गिरीश जी ने बताई है।। मेरे और पर्यटकों के अनुभव तो ये ही हैं। ध्यान भी लोग क्यों दें? खाना, पीना, परिश्रम करना और फिर मनोरंजन यही तो वहाँ का स्वाभाविक जीवन है! वहाँ किसी को दबाने के लिए न तो अलौकिक मंत्र-शक्ति की आवश्यकता है और न इस दुःखी जीवन से अशांत मनुष्य बुद्ध की तरह दूसरे जीवन की कामना करता है। कामना क्यों करें? वह कोई पाप नहीं करता, शोषण नहीं करता, फ्रायड के शब्दों में, उसकी दमित इच्छाएँ फलतः धर्म का आवरण डाल कर जीवन से पलायन नहीं कर पाती? बुद्ध ने प्रकाश पाने की चेष्टा की थी, इसलिए विश्व की यथार्थवादी सामाजिक मार्मिक छवियाँ जो आज के

जीवन की 'ट्रेजेडी' हैं" उसे वे सहन न कर सके। अगर उनमें क्रान्तिकारी भावनाएँ होतीं (जैसा मनोविज्ञान भी बताता है), तथा आर्थिक तुलापर वैज्ञानिक ढंग से मनुष्य के दुःख को परखने की चेतना होती, तो संभवतः कार्ल मार्क्स की प्रतिभा बुद्ध के रूप में भारतवर्ष में ही हजारों साल पूर्व जन्म ले लेती।

'गिरीश' जी का दूसरा विचार है—"आध्यात्मिक प्रक्रियाओं द्वारा मिलने वाली मन की शान्ति तथा लौकिक सुख-सुविधाओं की व्यवस्था से प्राप्त होने वाली शान्ति, एक दूसरे की पूरक मात्र हैं; इन दोनों में से कोई आत्म-निर्भर नहीं।" अगर 'गिरीश' जी आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का अर्थ भारतीय कर्म-कांड और गीता, उपनिषद् अथवा बुद्ध का अध्यात्म मानते हों, तो मुझे उनसे यही कहना है कि लौकिक सुख-सुविधाओं से प्राप्त शान्ति ही सत्य है, पूरक नहीं है वह। बिना आध्यात्मिक सहयोग के भी वह जी सकता है और आज चीन और रूस में जी रहा है। अगर स्वयं 'गिरीश' जी भी सचाई से इस कथन की जाँच करें, तो अवश्य उन्हें मेरी बात समझ में आ जायेगी।

अधिक विषयान्तर होने के भय से मैं अन्य प्रश्नों पर जाना नहीं चाहता।

❀ ❀ ❀ ❀

श्री योगेन्द्रनाथ तिवारी ने 'कल्पना' के मार्च अंक में साहित्य-धारा स्तंभ में प्रकाशित मेरे विचारों "प्रगतिवाद शंकाएँ और समाधान" का उत्तर देते हुए कुछ प्रश्न उठाए हैं। उन्होंने कहा है—"गिरीश जी योरोपीय प्रगतिवाद को भारतीय आदर्शों के रूप में बदल लेना चाहते हैं।" जहाँ तक प्रगतिवाद का भारतीय आदर्शों के अनुसार परिवर्तन करना है, स्वयं प्रगतिवादी लेखकों ने इस पर बहसें की है और यह मानने के लिए तैयार हैं कि भारत में भारतीय परिस्थिति के अनुसार प्रगतिवादी आन्दोलन चलेगा।

अगर यह मान भी लिया जाय कि प्रगतिवादी साहित्य भारतीय परिस्थितियों से भिन्न जबरदस्ती लादा जा रहा है, तो वह अवश्य एक ही प्रकार की रचना होती; परन्तु उसकी रचना में हम भारतीय संस्कृति की रक्षा के साथ विविधता भी पाते हैं। नागार्जुन ने प्रेमचंद की परंपरा को स्थापित करते हुए उपन्यास-साहित्य में क्रान्ति कर दी है। उत्तर बिहार का जनवादी आन्दोलन (राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों),

जो रूस और चीन से नहीं आया है; इसी भारतीय मिट्टी, अन्न, जल और हवा में से पैदा हो कर उनके साहित्य का विषय बन गया है। हाँ, उसके मार्ग को आलोकित करने वाला मार्क्स का प्रगतिवाद भी हो सकता है और भारतीय प्रगतिवाद भी।

टिप्पणी के तृतीय अनुच्छेद में उन्हीं प्रश्नों को उठाया गया है, जिनका उत्तर मैं दे चुका हूँ। मैं अक्सर साहित्य की लीक छोड़ कर राजनीतिक विषय पर बहस नहीं चाहता। मार्क्सवाद के बाद नयी भूमि न मिलने के अभाव में, जैसा कि टिप्पणी में बताया गया है, रूस और चीन के साहित्यकार या लोग "आत्महत्या" कर रहे हैं। कम से कम मुझे तो इसकी सूचना नहीं मिली है और न मैं रूस के ३६ वर्षों के जीवन इतिहास की सच्ची कहानी (जो राधाकृष्णन्, विजयलक्ष्मी, इंदिरा गांधी, डा० किचलू, यशपाल इत्यादि द्वारा प्रशंसित भी हो चुकी है) को झुठला ही सकता हूँ।

आज तो एक क्या हजार व्यक्ति इस प्रकार की भ्रान्त धारणा को पाल रहे हैं; साधारण जनता और पाठकों का क्या कहना, हिन्दी के बड़े-बड़े मनीषी साहित्यकार एवं विचारक भी इससे बुरी तरह आक्रांत हैं। कहा जाता है—"मार्क्स का प्रगतिवाद पूर्ण रूपेण हिंसात्मकता पर आधारित है।" मार्क्स ने हिंसा को अनिवार्य नहीं बतलाया। हिंसा साधन है साध्य नहीं। और फिर उसका संबंध साहित्य के प्रगतिवाद से उतना नहीं है, जितना राजनीति से; राजनीति मेरा अभीष्ट नहीं था।

एक स्थान पर पुनः प्रश्न किया गया है—"बेचन जी यह प्रश्न कर सकते हैं कि गिरीशजी का भारतीय प्रगतिवाद क्या आर्थिक-विषमताओं को हल करने में सफल हो सकेगा ?"

स्वयं उस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है—"क्यों नहीं ? उसमें किसी युग-विशेष तक सीमित रहने की प्रवृत्ति नहीं है, उसमें सत्य का ऐसा स्वरूप है. जो भिन्न-भिन्न युगों में देश-काल की आवश्यकतानुसार भिन्नता ग्रहण करके भी अधिकांश में अपने स्वरूप को बनाए रख सकेगा।"

यहाँ हमें वस्तुस्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं मिलता; उसे बिलकुल भावुक आदर्श में बांध दिया गया है। उसमें आर्थिक दृष्टिकोण का स्थान गौण है; उसकी प्रक्रिया, विकास, रूप, आधार और

स्थायित्व का कोई भी संकेत नहीं मिलता। केवल प्रगतिवाद के "सत्य-स्वरूप का" ढोल पीट कर तो पेट नहीं भरा जा सकता। सत्य और आदर्श वहीं तक आदर्श है, जहाँ तक उससे आर्थिक स्थायित्व में गड़-बड़ी पैदा नहीं होती, बल्कि सत्यता मिलती है।

व्यक्त विचारों में एक स्थान पर यह कह कर प्रश्न-चिन्ह लगाए गए हैं—"आर्थिक साम्य की व्यवस्था हो जाने पर किस उदय तथा लोप होने वाली वस्तुओं के भीतर संघर्ष रह जायगा ? क्या मानव हृदय नयी प्यास, नयी भूख की सृष्टि न करेगा ?"

मैं पुनः वही वाक्य दुहराना चाहूँगा कि यह प्रश्न साहित्यिक से अधिक राजनैतिक और सामयिक है। आर्थिक साम्य हो जाने पर लोगों का संघर्ष अपने श्रम से होगा—अधिक उत्पादन करने एवं नवीन प्रयोगों द्वारा देश की उत्पादन क्रिया को सामूहिक रूप में बढ़ाने का प्रयत्न यही उनके उदय और लोप एवं नयी भूख तथा प्यास का विषय बनेगा, बन रहा है।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रगतिशील साहित्य की प्रेरणा

'पाटल' के सम्पादक श्री रामदयाल पांडेय जी ने श्री शिवदान सिंह चौहान जी के एक लेख—"कार्ल मार्क्स : जनवादी साहित्य की प्रेरक शक्ति" के संबंध में लिखते हुए प्रगतिशील साहित्य पर चोट की है और फर्माया है—

"आलोचना के भूतपूर्व संपादक और प्रसिद्ध आलोचक श्री शिवदान सिंह चौहान का मत है कि निराला, पंत, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अश्क आदि ऐसे अनेक लेखक और रचनाकार हैं जिनके लिये मार्क्स प्रेरणा का केन्द्र बना है। हम यह तो स्वीकार करते हैं कि हमारे साहित्यकारों को मार्क्स से भी जब-तब और कुछ-कुछ प्रेरणा मिलती होगी, परन्तु हमें यह स्वीकार नहीं कि मार्क्स को प्रेरणा-केन्द्र बनाकर ही इन साहित्यकारों ने साहित्य निर्माण किया है।"

जहाँ तक शिवदान जी के प्रेरणा केन्द्र का प्रश्न है, शिवदान जी के उक्त लेख का आशय केवल यह नहीं कि मार्क्सवाद ही उक्त लेखकों के लिये प्रेरणा का केन्द्र रहा, वरन् उनके कहने का अर्थ यह है कि

हिन्दी लेखकों के अन्य प्रेरणा केन्द्रों में मार्क्सवाद भी प्रेरणा का एक केन्द्र रहा है। श्री शिवदान जी के इस कथन को उनके निबंध के शीर्षक से ही समझा जा सकता है। उनके निबंध का शीर्षक है—"कार्ल मार्क्स : जनवादी साहित्य की प्रेरक शक्ति।" शीर्षक से स्पष्ट है कि उन्होंने केवल जनवादी साहित्य की प्रेरक शक्ति मार्क्स को माना है, जब कभी भी उपर्युक्त लेखकों ने अन्य प्रकार के साहित्य की रचना की निःसंदेह वहाँ मार्क्सवाद प्रेरणा का केन्द्र नहीं है। शिवदान जी के कथन की दूसरी सार्थकता है—पंत, निराला, अश्क, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, रवीन्द्र इत्यादि का जनवादी साहित्य—

पंत के लिये मार्क्सवाद कुछ दिनों तक प्रेरणा का केन्द्र रहा जो किसी भी पाठक से छिपा नहीं। युगवाणी, ग्राम्या, युगान्त इत्यादि में इसका रूप आसानी से देखा जा सकता है। निराला के यथार्थवादी उपन्यास और कवितायें तो मार्क्सवाद से प्रभावित है ही।

अश्क की पंक्तियों से उसकी स्पष्ट ध्वनि सुनायी पड़ती है—

"एक नया युग आने को है
शोषण है मिट जाने को
औ, जग उत्पीड़न के बदले
एक नया सुख पाने को
❀ ❀ ❀
जहाँ कि पीलन पति से शोषक
को होगा रहना दूभर
औ चरवाहों से श्रमिकों का
ऊँचा होगा जीवन स्तर !"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना के कुछ सिद्धान्तों में मार्क्सवादी रंग है। भले ही वह रंग द्विवेदी जी के मौलिक चिन्तन का भी परिणाम हो, किन्तु वह मार्क्सवादी विचार-धारा से विशेष मेल खाती है—जैसे यथार्थवाद के संबंध में वह कहते हैं—"हमारे देश के उपन्यासों में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है, किन्तु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है अर्थात् आगे बढ़े हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार परम्परा इन दोनों के व्यवधान को पाटते रहने

का निरन्तर प्रयत्न—वह कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा"। (हिन्दुस्तान साप्ताहिक, ८ नवम्बर १९५३)

इसी से मिलती जुलती बात अगस्त में मेलनकोव ने (आचार्य जी से पहले) सोवियत संघ की कम्युनिष्ट पार्टी की १९ वीं काँग्रेस में कहा था—जो लेनिनवादी सिद्धान्त पर आधारित है—

"यथार्थवादी कला की शक्ति और महत्व इस बात में है कि वह साधारण मानव के ऊँचे आध्यात्मिक गुणों और उसके चरित्र के ठेठ (टिपीकल) स्वाभाविक विशेषताओं तथा रचनात्मक गुणों (पोजिटिव) की खूबियों को उभार सकता है।"

और मार्क्सवादी आलोचकों के स्वर में स्वर मिलाकर आचार्य जी भी मानते हैं—"मार्क्सवादी साहित्य कितने भी दुर्द्धर्ष जड़ विज्ञान के तत्ववाद पर आधारित क्यों न हो वह मनुष्य को केवल नियति का गुलाम नहीं मानता। सिद्धान्त रूप में वह चाहे जो भी स्वीकार क्यों न करता हो, साहित्य में वह मनुष्य को दृढ़चित्त बनाने का कार्य करता है।"

(अशोक के फूल, पृष्ठ ४२)

प्रेमचंद के गोदान, मंगलसूत्र, कफन इत्यादि में प्रेमचन्द की सहज जागरुकता इसका प्रमाण है। अपने अन्तिम अपूर्ण उपन्यास मंगलसूत्र में तो—प्रेमचंद मार्क्सवाद के और अधिक निकट पहुँच कर स्पष्ट अभिव्यक्ति कर सके थे। "दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिये हथियार बांधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।"

प्रकाश चन्द्र गुप्त के एक उद्धरण से उसकी पुष्टि यों होती है "सन् १९३६ में जब प्रेमचंद पहले प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के सभापति हुए उन्होंने दलितों के प्रति सहानुभूति रखने वाली सचेत वैज्ञानिक विचार धारा से अपना संबंध जोड़ा, और इसके फलस्वरूप 'यूटोपियन' हल हमें उनकी पहली रचनाओं में मिलते थे, वह बन्द हो गये।"

रवीन्द्र के साहित्य (विशेष कर रूस से लौट आने के बाद के रचित साहित्य में) "रूस की चिट्ठी" एवं The Great Symphony इत्यादि में स्पष्टतः मार्क्सवाद की चेतना है—The Great Symphony में कवि मार्क्सवाद की सत्ता को मानते हुए पश्चाताप करता है—

"Not every where have I won success,
My ways of life have intervented
and kept me out side.
The tillr of the Plaugh, the weaver of the booim
the fisherman plying his net,
These and the rest toil and sustain the world.
with their world wide varied labour,

❀ ❀ ❀ ❀

I have known them from a corner.
Vanished to a high pedestal of society
reared buy renown."

उनकी एक कविता का स्पष्ट अंश यह है जिसमें उन्होंने पूँजीवाद को आड़े हाथों लिया है—

"जो भूखे हैं और जो नंगे हैं
और जो खाकर अघाये हुए हैं
उनके परस्पर संघात से
चिनगारियाँ छूट रही हैं
तहखानों में लूट का धन इकट्ठा हो रहा है
एक विकट भूकंप का शोर उठ रहा है
पूँजी की सत्ता की नींव हिल उठी है
उन दबे और पिसे प्राणों के लिये
नरभक्षी पशु झपटते हैं
और उनकी पैनी नखों की नोच खसोट
जगह—जगह बिखर जाती है
धरती खून से लथ पथ है
इस विनाश के महावेग से
एक विपुल, समृद्ध और वीर शान्ति
एक दिन जन्म लेगी।

एक स्थान पर रवि ठाकुर सोवियत संघ के शान्तिपूर्ण कार्य का

अभिनन्दन करते हुए लिखते हैं—"रूसी क्रान्ति का निनाद विश्व का निनाद है। आज संसार के राष्ट्रों में से यह एक राष्ट्र संपूर्ण मानवता का हित चिंतन कर रहा है—राष्ट्रीय स्वार्थ से ऊपर उठ कर!

"जब मैं सोवियत संघ की करीब दो सौ जातियों को शान्तिपूर्ण प्रगति और सौहार्द के साथ आगे बढ़ते देखता हूँ और जब अपने देश के बारे में सोचता हूँ तो मैं शासन की दो व्यवस्थाओं की तुलना किये वगैर नहीं रह सकता। एक व्यवस्था सहयोग पर आधारित है दूसरी शोषण पर।"

इन पंक्तियों के द्वारा आसानी से जाना जा सकता है कि रवि बाबू पर मार्क्सवादी शासन और मार्क्सवाद का कितना गहरा असर था।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रगतिशील लेखक संघ

प्रगतिशील लेखक संघ*की स्थापना का हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना एक ऐतिहासिक महत्व है। ऐतिहासिक परिवर्त्तन वास्तव में मनुष्य के विचारों को झकझोर डालता है। इस संघ की स्थापना से भी कुछ ऐसा ही हुआ। इसकी स्थापना से एक ओर तरुण लेखकों में अपार हर्ष हुआ तो दूसरी ओर कुछ लोगों में निराशा का अभेद्य साम्राज्य व्याप्त कर गया। बंधुओं का आक्षेप है—(१) कलाकार स्वयं प्रगतिशील होता है, फिर प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना का क्या अर्थ? (२) और प्रगतिशील लेखक संघ से जो संबंधित नहीं हैं वे क्या प्रतिक्रियावादी कलाकार हैं? (३) यह संघ कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीति का प्रचार करने के लिए बनाया गया है, अर्थात् यह साम्यवादियों का सांस्कृतिक मंच है।

इस संघ की स्थापना के कुछ ही दिनों में इतना व्यापक असर इसका हुआ कि कुछ कलाकारों को छोड़कर सभी इमानदार कलाकारों ने इसमें भाग लिया, सहयोग दिया—प्रेमचन्द, रवीन्द्र और निराला ने भी! चुनाँचे उपर्युक्त आक्षेप कर कुछ गुमराह लोगों ने इसकी ओर उन्मुख होने वाले कलाकारों को गुमराह करना चाहा और लांछन लगाये। जहाँ तक प्रथम आक्षेप की बात है, वह बिल्कुल भोला-सा एवं मूर्खतापूर्ण आक्षेप है।

* सन् १९३६ ई० में भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी।

प्रगतिशील सभी कलाकार नहीं होते। गत अर्द्ध शताब्दी के हिन्दी साहित्य ने अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है कि प्रगतिशील साहित्य का क्या अर्थ होता है! उसकी क्या सीमाएँ हैं। प्रगतिशील साहित्य उस साहित्य को कहते हैं, जो शोषण, अनाचार, अत्याचार और विषमता मिटाने के लिये लिखा गया जनता का साहित्य होता है। "प्रगतिशील साहित्य अपने युग की माँग को पूरा करनेवाला साहित्य होता है। उसकी शक्ति इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट है। इसमें सन्देह नहीं कि आम लोगों की धारणा यह है कि जनता का पक्ष लेकर लड़ने वाला साहित्य प्रगतिशील है। शायद इसीलिए उसके विरोधी नाराज होकर विदेशी प्रभाव मार्क्सवाद की कट्टरता, कम्युनिष्ट पार्टी की दासता का आरोप प्रगतिशील लेखकों पर करते हैं। लेकिन जो साहित्य जनता का पक्ष लेगा, वह जरूर शक्तिशाली होगा और अजेयगति से आगे बढ़ता जायगा!"

—डा० रामविलास शर्मा

प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद के संबंध में भी कुछ भ्रान्त धारणा फैलती जा रही है। जिसका स्पष्टीकरण डा० रामविलास शर्मा ने किया है,—"प्रगतिशील साहित्य कोई और चीज है" इस तरह का सूक्ष्म भेद किया गया है। जैसे छायावादी कवि की रचनायें छायावाद से भिन्न नहीं वैसे ही प्रगतिशील या प्रगतिवादी लेखकों की रचनायें प्रगतिवाद से भिन्न नहीं। हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील और प्रगतिवाद का उसी तरह व्यवहार होता है जैसे छायावाद और छायावादी का। एक आलोचक (श्री शिवदान सिंह) का विचार है कि मार्क्सीय सौन्दर्य शास्त्र का नाम प्रगतिवाद है। लेकिन २० वीं सदी के भरत मुनि या अरस्तू के अभाव में वह सौन्दर्य शास्त्र अभी रचा नहीं जा सका इस तरह प्रगतिवाद एक भविष्य की वस्तु ठहरती है, जो किसी भावी सौदर्यशास्त्री के जन्म पर अवलम्बित है ऐसे प्रगतिवाद की चर्चा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य उस नई विचारधारा और साहित्य की चर्चा करना है जिसे लोग प्रगतिशील या प्रगतिवाद कहते हैं और जिसका प्रसार लगभग सन् ३० के बाद हिन्दी साहित्य और हिन्दुस्तानी समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ है।"

—डा० रामविलास शर्मा

आज तक मानवता की मुक्ति के लिये जिस किसी भी कलाकार ने उपर्युक्त प्रकार की रचनाएँ की हैं, वे प्रगतिशील कलाकार हैं। प्रगतिशील वह कलाकार नहीं होता जो नयी-नयी रचनायें करता है, नित्य-नई नई पुस्तकें लिखने वाले घासलेटी साहित्यकार को हम प्रगतिशील नहीं कह सकते ! उसे सही मानी में प्रतिक्रियावादी कलाकार कहेंगे !

प्रगतिशील विचारधारा को मानने वाले वे कलाकार जो सामाजिक विकास की प्रक्रिया में योगदान नहीं देते, वरन समाज को पीछे ढकेलते हैं वे प्रतिक्रियावादी हैं। कलाकार का अर्थ ही है मानव आत्मा का शिल्पी। अगर वह अपनी तूलिका से मानवता के चित्र को स्पष्ट रूपेण आगे की ओर उन्मुख न कर सका तो वह किसी भी प्रकार अपने इस महान पद से च्युत होता है—और प्रतिक्रियावादी कहलाता है। किसी भी कलाकार के संबंध में यह विचार देना कि वह प्रतिक्रिया-वादी या प्रगतिशील है, काफी श्रम साध्य एवं खतरे से खाली नहीं है। हिन्दी में आज तीन प्रकार के कलाकार दिखाई पड़ते हैं (अर्थात् तीन श्रेणियों में उनका विभाजन किया जा सकता है) प्रथम श्रेणी में वे कलाकार हैं जो स्पष्ट रूप से प्रगतिशील साहित्य की रचना करते हैं एवं उसमें विश्वास रखते हैं। दूसरी श्रेणी में वे कलाकार हैं जो अन जाने ही प्रतिक्रियावादी साहित्य को बल पहुँचाते हैं। ऐसा होना स्वाभा-विक भी है। क्यों कि—

"समाज के सभी वर्ग एक ही व्यवस्था के अंदर काम करते हैं, इसीलिये परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क में आकर परस्पर प्रभाव भी डालते हैं। इसीलिये जनता का पक्ष लेने वाले कवियों में भी बहुधा उन विचारों की झलक मिलती है जो सामंतों के लिए हितकर होते हैं।"

—डा० रामविलास शर्मा

तीसरी श्रेणी में वे कलाकार हैं जो अपने को प्रगतिशील कहते हैं पर वे प्रगतिशील हैं नहीं और जनता को गुमराह करते हुए एवं प्रगति-शील साहित्य की व्याख्या को बदलते हुए प्रतिक्रियावाद को जानबूझकर बल पहुँचाते हैं—अज्ञेय और आलोचना ❀ (डा० धर्मवीर भारती एण्ड ग्रुप द्वारा सम्पादित) का कार्य अभी हिन्दी साहित्य में ऐसा ही हो रहा है। समय मिलने पर इस विषय पर विस्तार पूर्वक लिखा जायगा।

❀ (त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका)

(१९५३)

प्रगतिवाद और दिनकर

'रसवन्ती' की भूमिका में दिनकर ने लिखा है—"प्रगतिवाद का अर्थ......साम्यवाद नहीं बल्कि नवीनता का पर्याय है और उसके दायरे में उन सभी लेखकों का स्थान है......जो पुरातन और गतानुगतिकता के खिलाफ हैं"। यहाँ दिनकर ने चेतना के अभाव में नयी थीसिस देने का प्रयत्न किया है। दिनकर का विरोध प्रगतिवाद से कहाँ है, यह भी उपर्युक्त कथन से दिनकर के काव्य को मिलाने पर स्पष्ट हो जायगा। जहाँ तक साम्यवाद और नवीनता का प्रश्न है, नवीनता तो छायावाद में भी थी, पर क्या हम उसे प्रगतिवादी आन्दोलन कहेंगे ? कभी नहीं। जहाँ तक प्रगतिवाद और साम्यवाद की बात है, उस संबंध में एक कटु बात कहनी होगी—जो कि संभवतः साहित्यिक आलोचना का विषय न भी हो—मैं इसके लिये सभी बन्धुओं से क्षमा मांग लूंगा। दिनकर अपनी साहित्य साधना की प्रारंभिक अवस्था से ही अंग्रेजी सरकार, फिर कांग्रेस सरकार के क्रमशः नौकर रहे, आज वे सरकारी सलाहकार हैं। रसवन्ती का प्रकाशन भी उसी मध्य में हुआ। उस समय दिनकर को एक क्रान्तिकारी कवि के रूप में अच्छी ख्याति मिल चुकी थी। उन्होंने प्रगतिवाद का सेहरा भी अपने सिर लेना चाहा क्यों कि उस समम देशव्यापी प्रगतिवादी आन्दोलन महत्व प्राप्त कर चुका था—किन्तु वे एक जिम्मेदार सरकारी नौकरी में रह कर ऐसा करते कैसे ? क्यों कि उस समय प्रगतिवादियों को साम्यवादी समझा जाता था। फलतः उन्होंने प्रगतिवाद की प्रचलित मान्यताओं को ही अपने अनुकूल मरोड़ देना चाहा ताकि उसमें उनका भी स्थान हो सके। शायद दिनकर का आन्तरिक हृदय अब भी प्रगतिवादियों को साम्यवादी मानता हो—वे जिस परिस्थिति में हैं उसके अनुसार मानना भी चाहिये; इसी लिये उन्होंने अपने कथन का स्पष्ट भाव व्यक्त किया। पर मेरा यह कहना है कि भले ही दिनकर साम्यवादी न बनें, वे प्रगतिवादी भी न बनें (हालांकि प्रगतिवादी बनाना साम्यवादी बनना नहीं है); वे कुछ भी न बनें; किन्तु उनकी कविता से ऐसी ध्वनि तो अवश्य आनी चाहिये जिसमें समता और समष्टि का स्वर हो। दिनकर में वह गुण था, जो समय पर फूटता ही, पर उसका मार्ग अवरूद्ध कर दिया गया। दिनकर की इस दुर्बलता का अनुभव प्रारंभ में ही डा० नगेन्द्र प्रभृति आलोचकों

को हो गया था-" प्रगति का स्वरूप स्थिर होते-होते हमें आशंका है कि दिनकर, नवीन, अंचल को इस वर्ग से निकलना होगा, क्यों कि उनकी काव्य सामग्री, भाषा और टेकनीक में प्रगति का संकेत नहीं है।" (आ० सा० पृ० १३४) श्री शिवदान सिंह चौहान ने भी लिखा था— "ये कवि नयी प्रगतिशील कला के विधान या शैली और उसके विषय बुद्धितत्व या वस्तु के प्रति पूर्णतः सचेत नहीं हैं। विचारधारा के अभाव के कारण चूंकि इन कवियों में क्रान्ति की आवश्यकताओं की चेतना का अभाव है; इसलिये वे वास्तव में अन्त तक क्रान्ति का स्वागत करते जायगें उसमें सन्देह है।"

आज उपर्युक्त आलोचकों की घोषणायें सत्य हो रहीं हैं। और

नवीन और दिनकर का प्रगतिवाद अहं का विस्फोट प्रतीत होता है। दिनकर की नवीनतम कृतियों को देखकर ऐसी धारणा और भी दृढ़ होती है कि वे नवीनता के पक्षपाती और गतानुगतिकता के खिलाफ होते हुए भी प्राचीनता की ओर यानी इतिहास के गर्भ में पलायन कर रहे हैं। रश्मिरथी इत्यादि कतिपय रचनायें इसका ज्वलन्त उदाहरण है। प्रगतिवादी विचारधारा की (इतिहास को वर्तमान की पृष्ठभूमि में रखकर देखना ही, सच्चे प्रगतिवादी ऐतिहासिक साहित्य का लक्षण है)— थोड़ी छटा भी हमें उसमें सुलभ नहीं। दिनकर का प्रगतिवाद इसी कारण वैयक्तिक प्रगतिवाद या सीमित राष्ट्रीयतावाद कहा जा सकता है।

और आज तो वस्तुतः national character राष्ट्रीय चरित्र उभर कर दिनकर की कविता में आ रहा है। राजनीति का राष्ट्रीयता वाद उनकी कविता का विषय भी है। स्यात् उनका यह अहं सिद्धांत है— "साहित्य राजनीति का रणवाद्य है।" इसी लिये उनमें क्रान्तिकारी रोमांटिक प्रवृत्ति अधिक है जो दूसरे अर्थ में उनके लिये पलायन वाद का पर्याय बनकर आया है— "पलायनवाद का मैं कटु आलोचक नहीं हूँ, क्यों कि मैं जानता हूँ कि कल्पना के महल में जब तब बंद हो जाने से कवि की शक्ति का विकास होता है"—इन बातों द्वारा आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि दिनकर का प्रगतिवाद क्या है।

❀ ❀ ❀ ❀

इसी प्रकार समय-समय पर कवि दिनकर की कविता और उनकी आलोचना दोनों में प्रगतिवाद के सम्बन्ध में विरोधी बातों का प्रतिपा-

दन किया गया है। 'मिट्टी की ओर' अपनी आलोचनात्मक पुस्तक में दिनकर ने प्रगतिवाद की व्याख्या जिस उदारता और सूक्ष्मता से करने की चेष्टा की है उसका सर्वथा भिन्न रूप हम उनकी प्रकाशित कविता "लोहे के पेड़ हरे होंगे" में देखते हैं। कुरुक्षेत्र में भी कवि ने युद्ध और विज्ञान के उपयोग पर प्रकाश डाला है, पर अन्त तक वह यह निर्णय नहीं कर सके हैं कि कौन सा मार्ग उचित वा अनुचित होगा जब कि एक क्रान्तिदर्शी कलाकार के लिये स्पष्ट स्वप्न देखना आवश्यक है। कवि कभी भी भावुकता के वातावरण से उतर कर, यथार्थ के धरातल पर आकर संभवत यह नहीं सोचना चाहता कि विज्ञान का दुरुपयोग क्यों किया जा रहा है जब कि उसका सदुपयोग भी है। कविवर ने लिखा है— "विज्ञान यान पर चढ़ी हुई सभ्यता डूबने जाती है।"

दूसरी ओर कविवर लिखते हैं—"अगर कला को हम पल-पल विकसित होने वाले ज्ञान कोष से भिन्न कर दें—वैज्ञानिक विश्लेषण—पद्धति के संसर्ग से अलग रख दें, संसार को हिला देने वाली सामाजिक तथा राजनैतिक शक्तियों के संक्रमण से दूर कर दें, संक्षेप में समकालीन जीवन के संघर्षों से हम अलग हटा लें, तो इनका सम्बन्ध किन तत्वों से रह जायगा? स्पष्ट ही तब कला वासना और प्रेम की बन्दिनी, वैयक्तिक चेतना और सनसनाहट की दासी तथा अस्पष्ट और अनुपयोगी स्तर पर भटकने वाली उन्मादिनी होकर रह जायगी और उसके उपासक शायद उसके उस शून्य रूप को देखकर स्वयं भी प्रसन्न हुआ करें किन्तु समाज उन्हें अधपागल ही कहेगा।" (मिट्टी की ओर, १३७)

कवि की आलोचना स्पष्टतः उस प्रगतिवादी आलोचक की वाणी सी लगती है जो अपने को समष्टिगत विचारों में पूर्ण रूपेण डुबा चुका है। पर, कविवर की कविता उस संकीर्ण विचार धारा वाले कवि की सी लगती है जो बोलना कुछ चाहती है, लेकिन लिखना कुछ चाहती है—

ऊपर जो भाव कविवर ने कविता में व्यक्त किया है, क्या उसके अनुसार सचमुच ही आज की सभ्यता डूबने जा रही है? क्या सच-मुच यह विज्ञान का ही दोष है? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न हो सकता है। किन्तु सच तो यह है कि जिस विज्ञान ऐसी शक्ति से (जिसका गुण गान दिनकर ने भी किया है) मानवता का सृजन किया जा

सकता है उससे संहार भी हो सकता है। आग से हम रसोई पकाने का काम भी ले सकते हैं, और घर जलाने का भी—इसका उपयोग करने के लिये सही और दुरुस्त मस्तिष्क की आवश्यकता है। दुरुस्त मस्तिष्क न रहने के कारण आज भी भारतीय बूढ़े बुजुर्ग गावों में विज्ञान को खोटी नजरों से देखते हैं। उन्हें ट्रैक्टर के बदले बैलों से ही खेत जोतना अच्छा लगता है, यह उनका परम्परागत संस्कार है।

फिर दिनकर प्रगतिवादी कैसे? इन्हें भी प्राचीनतावादी कहना चाहिये। हाँ, दिनकर की पंक्तियों का ऐसा अर्थ लिया जा सकता है (खींच-तान कर) कि पूंजीवादी सभ्यता अब "विज्ञान यान" पर चढ़कर डूबने जा रही है, अब उसके समय पूरे हो चुके और वह अब विज्ञान का दुरुपयोग भी कर सकती है। क्यों कि अणु और हाइड्रोजन बमों की शक्ति से वह विश्व को अपने शक्तिपाश में बांध लेना चाह रही है। पर संभवतः उस सभ्यता का विनाश नहीं हो सकता जो मानवता के सुनहले भविष्य में विश्वास करती है और जो यह देख रही है—"एक नया युग आने को है।" समय रथ पर चढ़ा हुआ नवीन मानव जाग रहा है। नये जीवन का बीज उसमें पड़ चुका है।

एक स्थान पर पुनः दिनकर ने लिखा है—'जब जब मस्तिष्क जयी होता, संसार ज्ञान से जलता है।" लेकिन ऐसा कब हुआ, कवि ने इसका उदाहरण नहीं दिया। अगर ऐसा होता तो सम्भवतः ज्ञान की ओर जाने को भारतीय महात्मा नहीं कहते। अरविन्द का दर्शन ज्ञान की चरम सीमा ही तो है। मार्क्स का सिद्धांत ज्ञान का उदात्त प्रमाण माना जाता है और एक कवि के लिये इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। स्यात टी० एस० इलियट ने लिखा है—कवियों में चेतना आवश्यक है, जिसे ज्ञान या reasoning कहा जा सकता है। किन्तु प्रगतिवाद दिनकर की बातों का समर्थन नहीं करता। वह चेतना को आवश्यक समझता है। दिनकर का प्रगतिवाद भावुकता की दुहाई देकर आगे नहीं पीछे जाने को कहता है। विरोधियों द्वारा दिनकर के बचाव में एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि प्रगतिवाद का लक्ष्य है—शोषण विहीन शासन एवं स्वतंत्र देश की कामना; दिनकर भी ऐसा चाहते हैं। इसका उत्तर हो सकता है कि कवि के लिये चाहना एक चीज है और उसे वास्तविकता के साथ समझ कर मार्ग दिखलाना और काव्य में वर्णित करना दूसरी चीज—फलतः परिणाम पर विश्वास रखते हुए—

action से वे प्रगतिवादी नहीं है। हाँ उन्हें तथाकथित प्रगतिवादी कहा जा सकता है। प्रगतिवाद दिनकर के लिए आज जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है—उसके अनुसार बिनोवा के भूदान यज्ञ पर लिखी गई कविता भी प्रगतिशील कविता कहला सकती है; और रवि बाबू द्वारा अंग्रेज शासक का प्रशस्तिगान— जन-गन-मन अधिनायक जय हे—भी आज प्रगतिशील है।

दिनकर की एक दिशा और भी है जिस अर्थ में भारतीय समाजवादी प्रगतिवाद को समझते हैं—सम्भवतः वह प्रगतिवाद दिनकर में भी है। पर उस प्रगतिवाद का जहाँ सर्वोदय साहित्य के प्रगतिवाद से मेल है, वहाँ शुद्ध साहित्यिक प्रगतिवाद से बहुत बड़ा विरोध भी है।

पंत की काव्यात्मक नीरसता

पंत के काव्य में बौद्धिक-काव्यात्मक शुष्कता होने का आरोप लगा कर यह कहा जाता है कि "हिन्दी का शेली हिन्दी में आता-आता ही रह गया।" * न केवल प्रगतिवादी आलोचकों को वरन् हिन्दी साहित्य के सभी आलोचकों को इसके लिए दोषी ठहराया गया है—"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदान सिंह चौहान तक सभी इस भयंकर दुर्घटना में ग्रस्त हो गए और हिन्दी-साहित्य को भी इसी दुर्घटना का शिकार बना गए।" मैं मानता हूँ वाजपेयी जी के विचार अपनी जगह ठीक हैं और प्रभाववादी पाठकों एवं आलोचकों को ऐसा भ्रम होता भी है, किन्तु जब विषय की वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक खोज की जाती है, तो यह कथन सही नहीं उतरता। जब पंत ने ग्राम्या की रचना के बाद आगे कदम बढ़ाया, उस समय ही कतिपय प्रगतिवादी आलोचकों को यह शंका हो गई थी कि पंत में अधिकाधिक बौद्धिक चिन्तन की नीरसता समाई जा रही है और मार्मिकता का ह्रास हो रहा है। स्पष्टतः, मार्मिकता की कमी काव्य में तभी होती है जब कि कलाकार अपनी अनुभूति को ठीक से अभिव्यक्त नहीं कर पाता या कि उसका साहित्य अनुभूति-शून्य होता है। पंत में अनुभूति शून्यता पर्याप्त रही—ग्राम्या की "भूमिका में उन्होंने स्पष्टता से स्वीकार किया कि जन साधारण के प्रति उनकी सहानुभूति बौद्धिक ही है।" मात्र बौद्धिकता और अनुभूति शून्यता से उत्पन्न शुष्कता तो काव्य नहीं हो सकता है—प्रगतिवादी काव्य भी नहीं हो सकता है; क्योंकि प्रगतिवादी काव्य सही अर्थ में कलात्मकता को तिलांजलि नहीं देता—इसीलिए वह बहुत अंश में "मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र का हिन्दी नामकरण है।"

इसी अनुभूतिगत विशेषता और बौद्धिकता का सम्मिश्रण होने के कारण प्रेमचन्द का 'गोदान' प्रगतिशील साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। किन्तु पंत दोनों का निर्वाह न कर सके। शायद उन्हें भ्रम हुआ कि बौद्धिक विचार ही प्रगतिवाद हो सकता है और "किसी रचना में

---

*पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य (पृष्ठ—२२, भूमिका)

व्यक्त विचारों को ही उस रचना के साहित्यक मूल्य को कसौटी मान लिया और लिखा है—

"तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार !
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ॥"

इससे बिलकुल खुलासा है कि पंत ने बौद्धिक विचारों को सब कुछ मान कर अपनी आत्महत्या कर ली—निस्संदेह इस हत्या के लिए पूर्णतः, नहीं तो कम से कम अंशतः, दोषी पंत है—क्योंकि कलाकार स्वयं अपने आप में एक आलोचक को भी ढोता चलता है—स्यात् इसीलिए (Scott) ने अपनी पुस्तक (Elements of Literature) में कवि को ही प्रथम आलोचक माना है। वास्तव में प्रथम श्रेणी के कलाकार में इतनी जागरुकता और चेतना होनी चाहिए कि वह अपनी कला का असर कुछ अंश तक समझे। आलोचक तो रचना का असर जनता को समझाता है और उस असर में अगर कहीं कुछ कमी या अतिरंजना होती है, तो उसे आलोचना के माध्यम से लेखक एवं पाठक तक विस्तारित (Communicate) करता है। मानना न मानना कवि पर निर्भर करता है—पंत के विषय में ऐसी घोषणा अवश्य प्रगतिवादी आलोचक डा० राम विलास शर्मा इत्यादि ने की थी—श्रीशिवदान सिंह चौहान के विचार मैं ऊपर दे चुका हूँ; नीचे डा० राम विलास शर्मा के विचार दे रहा हूँ—"जिस तरह 'पल्लव' छायावादी युग का प्रकाश स्तम्भ है, उसी प्रकार 'ग्राम्या' प्रगतिशील कविता का एक ऐतिहासिक मार्ग-चिन्ह है। दुर्भाग्य की बात यह थी कि पंत जी की सहानुभूति बौद्धिक स्तर से नीचे उतर कर मार्मिक नहीं बन सकी। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' इन नए काव्य-संग्रहों में उन्होंने बौद्धिकता की निन्दा की है, लेकिन मेरी समझ में वे मार्मिकता को अभी भी नहीं पा सके हैं। उनका अध्यात्म चिन्तन बुद्धिवाद की निन्दा करने पर भी बौद्धिक ही है।............ 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' की रचनाएँ अधिकतर 'युग-वाणी' के नीरस बौद्धिक-चिन्तन के स्तर की हैं।.........मेरा निवेदन इतना ही है कि 'ग्राम्या' की भूमिका में पंत जी ने जिस बौद्धिक सहानुभूति का उल्लेख किया है उसमें और गहराई ला कर उसे मार्मिक बनाने की जरूरत थी, न कि उसे नमस्कार करके पुनः एक नए छायावादी अध्यात्म जगत् में खो जाने की।"

इतनी व्याख्या से बातें अधिक साफ हो गई होंगी और इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया होगा कि पंत की शुष्कता उनकी शंकालु प्रकृति एवं मेरुदंड-हीनता का परिचायक है। अब तो आसानी से यह भी शंका उठ सकती है कि इस कवि का कोई स्वतन्त्र दार्शनिक आधार नहीं है, क्योंकि एक कवि की रचना में मात्र कुछ वर्षों में ही इतना परिवर्तन नहीं हुआ करता। शायद शिवदान सिंह जी ने ही कहीं लिखा है कि अगर 'पल्लव' और 'ग्राम्या' दोनों की कविताएँ किसी ऐसे व्यक्ति को दी जाय, जो पंत को नहीं जानता है तो वह यही निर्णय देगा कि दोनों संग्रह की कविताएँ किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है। यह रिमार्क बहुत ठीक-सा लगता है। इसीलिए बाबू गुलाब राय ने बहुत सोच समझ कर पंत के विषय में लिखा है—"पंत जी जितने भावुक हैं उतने ही दार्शनिक भी हैं।" (काव्य के रूप से) मुझे जहाँ तक स्मरण है, बाबू जी ने कभी ऐसा नहीं लिखा कि कौन सा दार्शनिक आधार पंत का है और किस भावुकता की सीमा में वह विचरण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि पंत जी में भावुकता और दर्शन है किन्तु वह संतुलित और Guarded नहीं है—भावुकता तो कलाकार का स्वाभाविक और अनिवार्य गुण है यह न रहने से, कलाकार और किसी साधारण व्यक्ति में भिन्नता कैसे हो सकती है, किन्तु संतुलन भी रहना आवश्यक है, जिसका अभाव पंत में है।

पंत जी में काल्पनिक वैयक्तिकता भी इतनी बढ़ी हुई है कि जन-भावना को सर्वदा ठुकरा कर (हालाँकि वे इसका प्रचार करते हैं) नए-नए वैयक्तिक दर्शनों के पीछे दौड़ते रहे हैं और भिन्न-भिन्न दर्शनों की व्याख्या एवं पद्यात्मक रूपान्तर ही उनकी कविता का लक्ष्य हो गया है। फलतः इस ढुलमुलपन से नीरसता पर्याप्त मात्रा में आ जाती है।

डा० शर्मा की बातों को भी मिला कर इससे स्पष्ट ध्वनि आती है कि पंत में इतने परिवर्तन उनकी किसी ऐसी मनोदशा का परिचायक है जिस पर सहज में किसी का रंग नहीं चढ़ता और मलेरिया ज्वर की तरह रोज संध्या-समय चढ़ कर सुबह उतर जाया करता है। यह मनोदशा स्पष्टतः पंत की प्रति वैयक्तिकता का प्रमाण है, जो छायावाद का विशेष गुण है। इसी वैयक्तिकता का सामाजीकरण न कर सकने

के कारण पंत छायावाद से रहस्यवाद, रहस्यवाद से प्रगतिवाद और फिर अरविंदवाद, अरविंदवाद से प्रयोगवाद (अपनी कुछ कविताओं को किसी रेडियो ब्राडकाष्ट में इन्होंने प्रयोगवादी भी बतलाया है), पुनः प्रयोगवाद से रहस्यात्मक-छायावाद-मिश्रित अरविंदवाद, दूसरे रूप में राष्ट्रीय प्रचारवाद की ओर जाते रहे हैं।

हाल ही में प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने पंत के नवीन परिवर्तन की सूचना देते हुए "नया पथ" (नवम्बर १९५५) में लिखा है—"अब भी जब कवि की प्रेरणा इस धरती से संबन्ध स्थापित करती है, वह ऊँची उड़ाने लेती है। 'यह धरती कितना देती है' शीर्षक कविता देखिये—

"मैं ने छुटपन में छिपकर पैसे बोये थे,
सोचा था, पैसे के प्यारे पेड़ लगेंगे,
रुपयों की फलदार मधुर फसलें खनकेंगी,
और फूल-फल कर मैं मोटा सेठ बनूँगा।
"पर बंजर धरती में एक न अंकुर फूटा,
बन्ध्या मिट्टी ने न कभी एक भी पैसा उगला।
सपने जाने कहाँ मिटे, सब धूल हो गए।
मैं हताश हो बाट जोहता रहा दिनों तक—

❀ ❀ ❀

यह धरती कितना देती है! धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को!—
नहीं समझ पाया था मैं उसके महत्व को
बचपन में!—छिः स्वार्थ लोभ से पैसे बोकर।
"रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ
इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं
जिसमें उगल सके धूल सुनहली फसलें,
मानवता की जीवन-श्री से हँसे दिशाएँ,
हम जैसा हीं बोएँगे, वैसा ही पावेंगे।"

इन पंक्तियों को पढ़कर अनायास ही मन में प्रश्न उठता है, क्या एक बार फिर पंत की कविता नई दिशा लेगी? धरती के प्रति कवि का मोह फिर एक बार बढ़ रहा है। कवि पंत ने अपनी विचार धाराओं के प्रति कभी आवश्यक मोह न रक्खा। छायावाद से प्रगतिवाद और प्रगतिवाद से अरविन्दवाद की ओर उनका विकास यह स्पष्ट करता है। आज फिर

कवि की दृष्टि आकाश कुसुम को छोड़ कर धरती के नन्हें फूलों की ओर मुड़ रही है। क्या यह कवि की दृष्टि में बड़े परिवर्तन की सूचना है आलोचक और पाठक के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है। कवि की यात्रा के अगले चरण इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट करेंगे।"

पंत की इस कमजोरी का ज्ञान डा० राम विलास शर्मा को आरम्भ में ही हो गया था। इसी को लक्ष्य कर उन्होंने लिखा था—"पंत जी में उस समय भी छायावाद की भर्त्सना करने के बावजूद भी—एक कल्पना-निर्मित आध्यात्मिक जगत् में पलायन करने की प्रवृत्ति विद्यमान थी।" (पृ०–४)

और कल्पना जगत् में पलायन करने का मूल कारण था उनकी वैयक्तिकता; किन्तु वैयक्तिक अभिव्यक्ति अधिक हो नहीं सकती, अधिक होगी तो उसमें पुनरावृत्ति दोष का आना स्वाभाविक है। बच्चन की नवीन कविताओं में यह दोष है। पंत शायद इससे कुछ-कुछ सचेत हैं, इसीलिए प्रेरणा पाने के लिए उन्होंने दर्शनों का पल्ला पकड़ा। परन्तु वह काव्य मात्र सैद्धान्तिक Dogmatic एवं अनुभूति शून्य होने के कारण काव्य होने से वंचित ही रहा—अन्ततः वैयक्तिक काव्य होने पर भी अनुभूति की गहराई और कला की मार्मिकता के कारण 'पल्लव' पंत काव्य का क्लाइमेक्स है। पंत-काव्य का ही क्यों, 'पल्लव' कामायनी दीपशिखा, तुलसीदास को मैं छायावादी काव्य का क्लाइमेक्स मानता हूँ। जहाँ तक पंत की अन्य कृतियों का प्रश्न है—उसमें काव्य का सत्य अंशतः ही है। इसीलिए 'ग्राम्या' को प्रगतिशील-काव्य कह कर भी, सफल प्रगतिवादी काव्य नहीं कहा जा सकता। युग-वाणी, स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि, उत्तरा, युगपथ, खादी के फूल इत्यादि के साथ भी यही बात है। अपने कवि को जीवित रखने के लिए विचारों का आश्रय लेकर पंत ने तुकबन्दियाँ की हैं। अब शेष जीर्ण-शीर्ण हड्डियों पर इन रचनाओं द्वारा पंत मांस चढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं। उसका एक छोटा उदाहरण दूं—गुंजन में प्रकाशित 'मानव' शीर्षक कविता की मूल विचार-धारा या शब्दावलियों को ही कहिए; कुछ परिवर्त्तन, संशोधन के साथ आज भी पंत दुहराते जा रहे हैं। अगर उनकी सारी कविताओं को एकत्रित कर इस प्रकार का मेल बैठाया जाय, तो संभवतः अधिकांश कविताएँ बिलकुल पुरानी विचार-धारा का उलट-फेर ही नजर आयेंगी।

अस्तु, आज हिन्दी-साहित्य के एक वर्ग (Section) के पाठकों एवं आलोचकों को यह भ्रम होने लग गया है कि पंत की कविता का पंत के जीवन-काल में ही ह्रास हो जायगा और कुछ समय के बाद उसे लोग पढ़ना भी पसंद नहीं करेंगे। सुनता हूँ, अँग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ के साथ भी यही हुआ था—अपनी उत्तरार्द्ध अवस्था में उसने बेजान बौद्धिक कविताएँ लिखी थीं, जिनका ऐतिहासिक मूल्य हो सकता है, काव्यात्मक मूल्य तो कुछ भी नहीं है। उसने अपनी इसी कमजोरी को छिपाने के लिए कहा था—

"Every great poet is a teacher; I wish to be either considered as a teacher or as nothing at all."—Wordsworth

वर्ड्सवर्थ के साथ ऐसी ट्रेजेडी इसीलिए हुई कि वह भी एक व्यक्तिवादी Romantic कवि था—इसलिए जब जीवन के अन्तिम काल में उसका जीवन-रस सूख गया तो उसने विचारों को घसीट कर कविता लिखना प्रारम्भ किया। यों तो सम्पूर्ण छायावादी काव्य इस रोग से पीड़ित है, डा० नगेन्द्र ने भी लिखा है—"छायावाद की कविता प्रधानतः शृंगारिक है क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओं से और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं।" परन्तु अधिकांश अन्य कवियों ने अपने व्यक्तित्व को साहित्य की समष्टि में मिलाकर अभिव्यक्ति दी—यही कारण है कि निराला आज अपनी शोचनीय अवस्था में रह कर भी 'अर्चना' और 'आराधना' की सृष्टि कर सके हैं, जिसे हिन्दी-साहित्य का गौरव-ग्रन्थ माना जायगा और इससे ही मालूम पड़ता है कि हिन्दी-काव्य-साहित्य निरंतर विकासशील है। किन्तु पन्त की कविता में विकास का कोई स्पष्ट लक्षण हमें नहीं मिलता।

मात्र बौद्धिक विचार और व्यक्तिवाद के संबन्ध में एक प्रश्न और होता है कि व्यक्तिवादी कलाकार अक्सर कोरे दार्शनिक विचारों की ओर इसीलिए भागा करता है कि वहाँ उसे संघर्ष का सामना नहीं करना पड़ता है। वह वहाँ सिद्धान्तों का काव्यात्मक अनुवाद करता है। अगर उसमें अस्पष्टता आ गई और आलोचक उसकी उस वस्तुस्थिति का पर्दाफाश न कर सके तो उसके द्वारा कलाकार को ख्याति भी मिल जाती है। पन्त के व्यक्तिवाद का पर्दाफाश करते हुए डा० राम विलास शर्मा ने लिखा है—"संघर्ष में न पैठ सकने का मूल कारण

पन्त जी का व्यक्तिवाद है।......जो व्यक्तिवाद 'खादी के फूल' की रचना कर पुनः एक बार विचारों का सहारा लेकर काव्य जगत् में गूँजा—"हम खादी के स्वच्छ परिधान के भीतर गांधीवाद के संस्कृत हृदय को स्पन्दित कर सकेंगे।" ('खादी के फूल' प्राक्कथन–पन्त)

पर, दुःख है कि अभी पन्त जी न तो गांधीवाद को पूरा बल दे रहें हैं और न अरविंदवाद को और न सच्ची मार्मिक अभिव्यक्ति ही कर रहे हैं। वे एक प्रकार से कहा जाय तो 'आउट आफ डेट' हो गए हैं। कभी-कभी एक-आध कविताएँ अच्छी निकल जाती हैं, वह बात दूसरी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है पंत जी की बौद्धिक काव्यात्मक शुष्कता के लिए आलोचक उत्तरदायी नहीं है।

[१९५७]

साहित्य में आत्माभिव्यंजन

साहित्य में आत्माभिव्यंजना का क्या स्थान है ? वह कुछ है भी क्या ? इन सारे प्रश्नों पर आधुनिक साहित्य ने विचार किया है और इसका विवेचन अब भी विभिन्न कोणों से हुआ करता है। आत्माभिव्यंजना को कुछ लोग Subjectivity कहते हैं अथवा स्वानुभूति निदर्शक साहित्य। पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र में काव्य के दो भेद किए गये हैं। उन भेदों में एक प्रमुख भेद यह भी है। इस प्रकार के साहित्य में कलाकार का व्यक्तित्व विशेष रूप से लक्षित होता है। कलाकार वहाँ स्पष्ट होकर अपनी सारी खूबियाँ लेकर सामने आता है। लेकिन एक दूसरा भेद जो साहित्य का बाह्यार्थ निरूपक साहित्य (Objective literature है, उसमें कलाकार इतना खुलकर सामने नहीं आता। हालांकि किसी भी रचना के साथ कलाकार रहता ही है। कलाकार की आन्तरिक गहराई इतनी सूक्ष्मता से कला में मिली रहती है कि उसको आसानी से निकाल सकना कठिन है। अगर ऐसी बात न हो तो एक ही विषय पर लिखी गई दो कलाकारों की रचना में कोई अन्तर नहीं रह सकता। पर ध्यान देने पर यह स्पष्टतः सामने आता है कि एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न लेखकों की रचनाओं के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों गुणों में अन्तर रहा करता है। इसलिए शुद्ध बाह्यार्थ निरूपक साहित्य की रचना कम ही होती है। इसी से मिलती जुलती स्वानुभूति निदर्शक काव्य की भावना को आचार्यों ने हेय माना है। उनका तर्क यह है कि यदि कोई कलाकार केवल अपने अन्तर की अनुभूति, जो बाह्य जगत् से किसी भी प्रकार मेल नहीं खाती, अभिव्यक्ति करता रहे तो वह एक वैचित्र्यपूर्ण रचना होगी, जिससे समाज को कोई लाभ नहीं। पर ऐसी रचना अवश्य आज कुछ हो रही है। आलोचक डा० नगेन्द्र ने स्वानुभूति की आत्माभिव्यक्ति का बहुत बड़ा स्थान साहित्य में माना है और उनकी यह भी धारणा है "आत्माभिव्यक्ति ही वह मूलतत्व है जिस कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।" डा० नगेन्द्र ने पूर्ण रूपेण साहित्य को वैयक्तिक मान लिया है। और उन वैयक्तिक भावों की शब्दों, अर्थों के द्वारा जो अभिव्यक्ति

हो सकती है, उसे वे साहित्य मानते हैं। स्पष्ट है कि डा० नगेन्द्र अहम् का स्थान कला में सुरक्षित रखना चाहते हैं। वह यह भी मानते हैं कि इसी अहम् की अभिव्यक्ति में कलाकार को आनन्द की प्राप्ति होती है। अर्थात् इस कथन का एक दूसरा पहलू यह भी हो सकता कि साहित्य हृदय का उद्‌गार है, जब जो अहम् कहता है, उसकी अभिव्यक्ति होनी चाहिये और उसकी अभिव्यक्ति ही कला है तथा उससे कलाकार को आनन्द मिलता है अर्थात् "कला कला के लिए" वाला सिद्धान्त डा० नगेन्द्र की धारणा से मिल जाता है। इस आनन्द की प्राप्ति को अगर रिचार्ड्स के अनुसार इस प्रकार समझा जाय कि कला हमारी किसी सौन्दर्य परक भावना को तृप्त करती है तो वह भ्रामक है, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है कि 'सौन्दर्य की भावना कोई अलग और विशिष्ट प्रकार की भावना नहीं है, अतएव उसके तृप्त करने का प्रश्न सामने नहीं आता।'

अगर डा० नगेन्द्र की बात मान भी ली जाय तो यह स्पष्टतः कहना होगा कि यह आत्माभिव्यक्ति व्यक्ति के (लेखक) अहम् का संस्कार करती है—उसकी वृत्तियों में कोमलता शक्ति सामंजस्य, सूक्ष्म जागरूकता, अनुभूति क्षमता आदि अवश्य लाता है पर उससे सर्व साधारण को इतने गुणों की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिए सार्वजनीनता की बात इस आत्माभिव्यक्ति में रहती नहीं। वह कुछ-कुछ अहम् का विस्फोट ही हो जाया करती है। इस अहम्‌वादी आत्माभिव्यक्ति का जहाँ 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त से संबंध जोड़ा जा सकता है, वहाँ इसका संबंध प्रकृतवाद (Naturalism) से भी दिखाई पड़ता है। जो प्रकृत है उसकी अभिव्यक्ति, अर्थात् आनंद के लिए प्रकृत की अभिव्यक्ति। परन्तु आज प्रकृतवादी कलाकार के अन्दर वर्तमान युग को देखते हुए एक अन्तरद्वन्द्व चल रहा है, "प्रकृतवाद है-स्खलन क्योंकि युग जनवादी है।"

डा० नगेन्द्र जैनेन्द्र की इस विचार धारा को भी सामने रखते हैं—"अपनी सृष्टि में वह इस अहं के नीचे दबी हुई पीड़ा को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विसर्जन है।" डा० नगेन्द्र इसका अर्थ फिर यह लेते हैं कि यह विसर्जन अहम् का संस्कार है और तब जैनेन्द्र की विचार धारा का दबी जबान से विरोध करते हुए यह भी सामने रखते

हैं कि समष्टिगत प्रेम बड़ा कठिन है।" अर्थात् समष्टि की अभिव्यक्ति हो नहीं सकती, जैसी ध्वनि जैनेन्द्र के उद्धरणों से आती है। जैनेन्द्र मेरे विचार से, समष्टि में घुल मिल जाना ही मानते हैं न कि वह अहम् की सत्ता अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। इस दृष्टि से जैनेन्द्र की आत्माभिव्यक्ति का सिद्धांत अभिव्यंजनावाद के समष्टिगत सिद्धांत से अधिक विशेषता रखता है। आत्माभिव्यक्ति जो मूलतः नगेन्द्र के शब्दों में वैयक्तिक वस्तु है, उसकी सामाजिक उपयोगिता सिद्ध करते हुए नगेन्द्र लिखते हैं—"आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनंद प्राप्त होता है वह स्वयं एक बड़ा वरदान है··· यह परिष्कृत आनंद उनकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध बनाता है—जीवन से रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्रांति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है। इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है"। और इसके लिए वे हिन्दी की रीतिवादी कविता का उदाहरण देते हैं; संभवतः वह अज्ञेय का "नदी के द्वीप" और 'शेखर' का भी उदाहरण दे सकते हैं, क्योंकि ये दोनों रचनाएँ निस्सन्देह आत्माभिव्यक्ति परक वैयक्तिक साहित्य है। पर इससे वृत्तियों के कोमल होने के स्थान पर विकृत होने का ही अधिक डर है, वस्तुतः मस्तिष्क दूषित हो जाता है। शेखर शशि भुवन और रेखा के प्रकृत संबंध के वर्णन से जो अनुभूति होती है, वह पाठक को क्या से क्या करने को बाध्य कर देती है······

जैनेन्द्र जिस अर्थ में आत्माभिव्यक्ति को मानते हैं, वह स्वयं अपने आप में महत्वपूर्ण है। तुलसी की रचना 'स्वांतः सुखाय' (अहम् की परितृप्ति के लिए लिखी गयी) होकर भी जिस प्रकार जन-जन की वस्तु बन जाती है, रचना का कुछ वही गुण जैनेन्द्र भी मानते हैं। तुलसी ने अपने अहम् को अपनी रचना में घुला दिया।

डा० नगेन्द्र ने आत्माभिव्यक्ति के दो अंग माने हैं—"एक आत्म और दूसरा उसकी निश्छल अभिव्यक्ति; इनमें भी निश्छल अभिव्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसके बिना साहित्य को गौरव ही नहीं मिल सकता। आत्म भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अभिव्यक्ति की निश्छलता समतुल्य होने पर आत्मा की गरिमा ही सापेक्षिक महत्व का निर्णय करेगी इत्यादि।" नगेन्द्र व्यष्टि का ही अधिक महत्व देते हैं

और इस मूल्य पर सामाजिक मूल्य को भी छोड़ सकते हैं। कलावादी कवि रवि बाबू भी आत्म की अभिव्यक्ति ही कला का मुख्य उद्देश्य मानते हैं—

"Where there is an element of the superflous in our hear's relationship with the world, art has its birth...... where our personality falls its wealth, it breaks out in display......the building of meng's true world—the living world of truth and beauty is the function of art".—

रबि बाबू ने वास्तव में काव्य के सौन्दर्य और अपनी आत्मा के सौन्दर्य को सब कुछ माना था।

आत्माभिव्यक्ति की दिशा में क्रोचे, लेंसिंग, रीड, रिचार्ड्स, इलियट इत्यादि ने अपने-अपने विचार दिये हैं। लेसिंग का सिद्धांत, सौन्दर्य-सिद्धान्त कहा जाता है। लेसिंग ने यह बताया कि काव्य और कलायें आत्मा के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती हैं। आत्म सौन्दर्य से संयुक्त अभिव्यक्ति ही साहित्य है, यही कला का प्रधान विधान है।

पाश्चात्य साहित्य में इसकी काफी चर्चा है। रोमांटिक साहित्य धारा में इसका प्राधान्य हम देखते हैं।

क्रौचे ने इस आत्म भाव के सिद्धान्त को माना और यह निष्कर्ष दिया कि मन की ही एक प्रक्रिया दृश्य—जगत को स्वरूप देती है और उसकी एक दूसरी प्रक्रिया उसका कलात्मक आकलन करती है। इस प्रकार समस्त साहित्यिक प्रक्रिया को क्रौचे ने मन की उथल-पुथल ही माना है। लेकिन वह बाह्य विश्व के आधार पर मन के व्यापार से अभिव्यक्ति की सत्ता सिद्ध करते हैं, अर्थात् उनका सिद्धान्त आत्माभिव्यंजना कम अभिव्यंजना अधिक है। लेकिन क्रौचे काव्य की मानसिक प्रक्रिया पर अधिक जोर देते हैं, जिस कारण वे वैयक्तिक अधिक हो जाते हैं। वह तो यहाँ तक मानने के लिए तैयार हैं कि साहिय का शब्द रूप में व्यक्त होना कोई आवश्यक नहीं है। वह शुद्ध रूप में लेखक की वैयक्तिक अनुभूति का विषय है। इस प्रकार मन की प्रमुखता मानकर क्रौचे सामाजिक जीवन के विशाल उत्तरदायित्व से विमुख हैं। रिचार्ड्स इस प्रकार की चमत्कारिक मानसिक कलावादी प्रक्रिया का विरोध करते हैं और साहित्य को शेष सृष्टि से भिन्न नहीं मानते। साहित्य का प्रत्येक खण्ड जीवन जगत की अनुभूति का ही परिचायक है। वह कुछ विचित्र वस्तु नहीं। और इस अनुभूति की

अभिव्यक्ति के लिए वह प्रेषणीयता (Communication) को भी अनिवार्य मानते हैं जिसके अभाव में कभी-कभी अच्छा साहित्य भी निकृष्ट सिद्ध होता है। रिचार्ड्स कला को ही सब कुछ मानते हैं। पर वे कला के उस भाग को मात्र अहम् का परिष्कार या उसकी अभिव्यक्ति नहीं मानते हैं। इस प्रकार वे कला को सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग देखते हैं।

हिन्दी में आचार्य शुक्ल भी अभिव्यंजना की चर्चा करते हुए रिचार्ड्स की उपर्युक्त मान्यता को ही मानते हैं। वर्तमान समय में टी० एस० इलियट ने इस संबंध में अपना जोरदार और क्रान्तिकारी विचार उपस्थित किया है। वह यह कहते हैं कि कलाकार का व्यक्तित्व इसी अर्थ में मान्य है कि वह अपने साथ अतीत की विचार परम्परा को लेकर आत्मा का सम्प्रसारण अथवा आत्मा का फैलाव करता है। इस प्रकार मात्र वैयक्तिक साहित्यिक अभिव्यक्ति का वह विरोध करता है। परिणाम स्वरूप आत्माभिव्यक्ति के ही एक रूप कला कला के लिए वाले सिद्धान्त को भी इलियट महत्व नही देता। वह उपयोगिता के सिद्धान्त का ही अथवा व्यष्टि के रूप में समष्टि के सिद्धान्त का सम्प्रसारण करते हुए साहित्य में निर्वैयक्तिकरण को मान्यता देते हैं। हालांकि वह यह भी आवश्यक मानते हैं कि आत्मा की अभिव्यंजना जितनी गहराई और आत्मीयता के साथ किसी कला सृष्टि में होगी वह उतनी अधिक उत्कृष्ट कला सृष्टि होगी। रिचार्ड्स ने भी इस निर्वैयिक्तिकता की आवश्यकता समझी है इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० नगेन्द्र जहाँ श्रेष्ठ कलाकृति के लिए व्यक्ति की एक स्वतंत्र सत्ता मानते हैं वहाँ इलियट श्रेष्ठ कला सृष्टि में व्यक्तित्व का लय हो जाना मानते हैं। शेक्सपीयर के साहित्य के उदाहरण द्वारा इलियट उसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि शेक्सपीयर का व्यक्तित्व उसकी कृति के किसी एक स्थल पर नहीं आया, वह तो समस्त कृतियों की जीवित सम्पूर्णता में अन्तर्व्याप्त हैं। हिन्दी में प्रेमचन्द साहित्य को सामने रख कर भी हम ऐसा ही कह सकते हैं* इस पुस्तक में कहीं-कहीं प्रेमचंद के उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि उनकी अधिकांश कृतियों में उनका ही जीवन बोलता है; ऐसी बहुत सारी कहानियों एवं पात्रों का नाम भी प्रेमचंद ने गिनाया है। शेक्सपीयर के सम्बन्ध में इलियट कहता है—

* प्रेमचन्द्रः घर में

"They give the pattern or may say the undertone of the personal emotion, the personal drama and struggle, which no biography, however full and intimate could give us."

इस आत्माभिव्यक्ति का संबंध आसानी से भारतीय रससिद्धान्त से भी जोड़ा जा सकता है। अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद की आन्तरिकता का ठीक विश्लेषण करने पर इससे कुछ सामानता प्रतीत होती है।

इस आत्माभिव्यंजना के सिद्धान्त को अन्य सिद्धान्तों से भी तुलना करने पर आसानी से जाना जा सकता है कि आत्माभिव्यंजना का साहित्य में अपना कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। वह अभिव्यक्ति में कुछ इस प्रकार घुला मिला रहता है कि उसे अलग कर हम कुछ भी विवाद उपस्थित नहीं कर सकते और न आत्माभिव्यंजना अपने आप में कला की विराट संज्ञा से अलग होकर इतनी बड़ी वस्तु सिद्ध होती है कि उसे भी एक अलग वस्तु कोई माने ! आत्मा की आन्तरिकता कला की हर वस्तु में होगी, जैसा कि प्रारंभ में ही बताया गया है। आंतरिकता के बिना साहित्य नहीं हो सकता और कोरा आंतरिक भाव भी साहित्य नहीं होता। मात्र आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति को हम पागल का प्रलाप या मानसिक मैथुन कह सकते हैं। आधुनिक विश्व साहित्य में ऐसे साहित्य की संख्या अधिक बढ़ गयी है, जिस कारण यदा कदा यह प्रश्न उठता है—'कविता मर गई है? साहित्य में गतिरोध है, साहित्य में बौद्धिकता आ गई है इत्यादि। ये सारे विचार और प्रश्न आज की यथार्थता से बचकर अहम् की अभिव्यक्ति अर्थात् कल्पना लोक में पलायन करने की प्रवृति बतलाते हैं। हावर्ड फास्ट ने सम कालीन विश्व साहित्य पर अपना मत प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

Thus all the current observations in art, surrealism dadaism, existentialism, cynicism, romanticism, vulgar escapism, the spuirrel cage of the "new poet" the new critic the new writer "the currently popular, American school of the unconscious, the brutal, the instinctive and the idiotic too-exist in relation to a standard ethic that has lost all the touch with the reality of our times.

नारी चरित्र और औपन्यासिक प्रेरणा

हिन्दी के अधिकांश तथाकथित मनोविश्लेषक उपन्यासों में नारी का रूप 'साधारण' सा है सभी जगह, सब तरफ, सब में शायद सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी औपन्यासिक कृतित्व में। वह असहाय बना दी जाती है जिसके लिये वह स्वयं दोषी है। अनीता, सुनीता, सुखदा, मोहनी, साधना, शशि, सुधा, पति की हैं पर उससे कम या अधिक प्रेमी की भी हैं। एक प्रतिस्पर्द्धा तो है जो शायद अन्तर में चलती है। बाहर में ठीक-ठीक दिखायी नहीं पड़ती (यदि दिखायी पड़ती तो समस्या नहीं रहती) वह मर्म है केवल बाहर। सब, सब कुछ जानते हैं, पर कोई कुछ नहीं जानता—सब व्यापार खुला है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास विवर्त्त में लिखा है—"नरेश का अब स्वभाव है। मोहनी को पहले दिन से उन्होंने स्वीकार किया। कभी पूछ-ताछ नहीं। बाईस बरस की युवती के पास अपना इतिहास भी हो सकता है। सद्यः वर्त्तमान के पीछे काफी कुछ अतीत भी हो सकता है। बल्कि नरेश का मत है कि होना चाहिये। पर इस सब में विवाह के कारण पति नाम के व्यक्ति के लिए भी—उलझन और उत्सुकता हो चले, यह वह अनिवार्य नहीं मानते, बल्कि उचित भी नहीं मानते"।

नारी निकाल दी जाती है—जैनेन्द्र ने 'त्यागपत्र' में निकाला—अज्ञेय ने 'शशि' को 'शेखर' में निकाला और डा० देवराज ने 'पथ की खोज में।' नारी निकाल दी जाती है, लेकिन क्यों ? कोई भयंकर कार्य के साथ कारण भी तो होना ही चाहिये। निस्सन्देह वह कारण इतना महान हो कि टाला नहीं जा सके। मनुष्य नहीं टालने से ही टाल देता है, लेकिन यह क्या ? किसी पूर्व उपेक्षित प्रेमी का कोई भावुकतापूर्ण पत्र (साधारण हेम-क्षेम से भरा) पत्नी को आता है और पति उसे छोड़ने को तैयार—छोड़ ही देता है। उसकी अभ्यर्थना वहाँ सुनी नहीं जाती है, स्यात् वह अभ्यर्थना करती हुई केवल चल देती है, चली ही जाती है। लेकिन वह कुछ कहने को ठहरती नहीं जैसे लगता है उसके पास कहने को कुछ हो भी नहीं और वह चली ही जाती है, वेश्या ऐसा जीवन बिताने—निर्द्वन्द, कलुषित और कठोर जीवन बिताने; अपने

प्रिय मित्र के पास जिसे वह भूल चुकी होती है अथवा एक मित्र के रूप में रह कर वासना तृप्त करने। इससे अधिक कुछ भी नहीं जब कि उसके लिये—अन्य मार्ग भी हो सकता है, वह साधना का मार्ग भी हो सकता है, वह दूसरे पति को ग्रहण कर गृहस्थ जीवन बिताने की कल्पना हो सकती है, पर ऐसा कुछ नहीं होता। वह एक जाल से दूसरे जाल में चली जाती है—मछली की तरह, जैसे वह जाल के लिये ही बनी हो। नदी में वह है, जबतक है, तबतक है। वह जाती है मात्र इसलिए कि अत्याचार एवं वासना की सृष्टि कर सके। और फिर वह मनोविकार बनता चलता है जैसे वह मनोविकार विष हो, जो फैले तो फैलता जाये और मनुष्य का शरीर विषाक्त कर दे। प्रगतिवादी आलोचकों का कथन है "आज के साहित्यकार जीवन की प्रेरणा मनोविकारों में खोजते हैं।" और मनोविकार वाह्य से अन्तर की ओर ही तो जाना है। पर अन्तर की कोई माँग भी होती है, उसका क्या कोई सम्यक् समाधान वाह्य जीवन या अन्तर में हो पाता है? जीवन व्यवस्था को बदलेगा कैसे? चूँकि वह जीवन अकेला जो है। फिर अन्तर को कुरेदा क्यों जाय? कथाकार उसे कुरेद कर ले तो चलता पर दुभाग्य वश पहुँचता है अँधेरी गली में—प्रकाश में नहीं। और अँधेरा क्या उदासी से कम गहरा महत्व रखता है? पर उदास मनुष्य इतना कैसे रहे, वह केवल उदास रहने को तो नहीं आया—उसकी प्राकृतिक प्रक्रिया तो यही बताती है। उदास ही रहता रहे तो यह सूरज क्यों निकले, सूरज के लिए सुबह का यह जागरण-गान क्यों हो—कुछ हैं जरूर जो सूरज से भागते अवश्य हैं पर वे कुछ ही तो हैं। उदासी तो सब नहीं चाहते। बंधु-वियोग होने पर भी कुछ ही क्षण लोग उदास रहना चाहते हैं, रहते हैं, वह उदासी सब दिन की अपनी तो नहीं होती। होगी तो मनुष्य जीयेगा भी क्या? उसमें कष्ट भी होता है, व्यायाम भी, पर व्यायाम भी तो कुछ ही क्षण किया जा सकता है, सब दिन जो नहीं हो वह शाश्वत साहित्य का मापदण्ड कैसे?

'शशि' भी निकाल दी जाती है। वह अब शेखर के पास है, उदास है, मायूस है, और है गौरवहीन। पर वह है, क्योंकि उसे होना है............। और उदासी भी उसे खा जाती है। लेखक ने उसे खा जाने दिया मानो वह कोई पाप तो नहीं था, पर उसे बना दिया गया, लेखक ही ने बनाया, क्योंकि उसके मन का "चोर" बोल उठा—

"और न सहसा चोर कह उठे मन में प्रकृतवाद है स्खलन क्योंकि युग जनवादी है"। (अज्ञेय)

अँधेरा जो उसके सामने है वह पाठक के सामने भी अँधेरा हो जाता है।

'पथ की खोज' की साधना निर्वासित घूमती फिरी (सीता होना उसका संदिग्ध है) जब कि उसका लेखक स्वयं कहता है "आज हमें बदली हुई मनोवृत्तियाँ और चारित्रिक संभावनाओं के सन्दर्भ में ही नये नैतिक मानव की खोज और प्रतिष्ठा करनी है।" अँधेरे में क्या वह सब कुछ हो सकता है जो होता है, जो प्रकृत है, जो लेखक की मूल समस्या है, पर जो समाधान खोजने के लिये यहाँ लायी गई है। 'नरेन्द्र' 'मदन' और 'चन्द्रनाथ' भी तो अपने अँधकार में भटकते ही रह जाते हैं।

'व्यतीत' की 'अनीता' ऐसा लगता है कि जयंत से ढली हो। (हालांकि लेखक ने इसका निर्देश नहीं किया) वह उसके बिना जी नहीं सकती, इसलिए वह बार-बार जयंत को सुखी देखना चाहती है, उसे सामने देखना चाहती है, वह उसकी सीमाओं के आर-पार देखना चाहती है, उसके लिये उसके पति मिस्टर 'पुरी' पति हैं इसलिये हैं, पर जयंत ही सच है, शाश्वत है। वह कुछ है जो अपने आप में वजन रखता है 'अनीता' उसके लिये कहती है—"घर बाँध कर बैठते तुम, जयंत, तो मेरा भी घर बँधा रहता। नहीं तो ज्वालामुखी पर बैठी कब सब जल जायगा कह नहीं सकतीं....... । मेरा घर बना रहा तो तुम होगे, उजड़ गया तो भी तुम होगे।" जयंत कितनी जमीन घेर लेता है!

अनीता जानती है—जयंत मुझसे प्यार करता है, केवल वासना से नहीं, प्यार है कुछ जो वह करता है। स्यात् इसीलिये वह कर्त्तव्य के क्षणों में पायी गई 'चन्द्री' को भी प्यार नहीं कर पाता, ऊपर तो प्यार करने को चाहता है। जब अनीता यह सब जानती है तो मर्माहत हो कराह उठती है—"मैं ब्याहता हूँ, फिर क्या चाहते हो?.......आदमी बनो जयंत, नहीं तो आधा घर मेरा जल गया है, क्या बाकी भी तुम नहीं बचने दोगे?"

और अन्त में व्यथा का कठिन भार ढोता हुआ जयंत संन्यासी हो जाता है, विरक्त मनोविकार और मनोविश्लेषण का भार मनुष्य को

क्या से क्या बना देता है। 'त्याग-पत्र' का 'प्रमोद' भी 'जजी' छोड़ देता है, विरक्त बन जाता है। मानस उसको ऐसा कहता है, और वह विरक्त हो ही जाता है।

और धर्मवीर 'भारती' के 'गुनाहों का देवता' में सुधा का क्या होता है—चन्दर के बिलगाव को वह नहीं सह पाती, व्यथा का भार ढोते-ढोते उसमें अवज्ञा के लिये स्थान नहीं रह गया था, फलतः वह जलती और गलती ही रही, तनाव बढ़ा और अन्त में सुधा चन्दर के लिये चल बसी, पर वह विवाहिता थी। विवाह के बाद चन्दर के एक लड़की-मित्र ने लिखा—"Congratulations and pity on youn romantic death."

'मृत्यु" का यह काला आवारण सब पर पड़ता गया, जैनेन्द्र से लेकर 'भारती' तक। पर मृत्यु के विरुद्ध किसी ने विद्रोह नहीं किया; संभवतः विद्रोह होता—तो मनोविश्लेषण नहीं रह जाता, वह केवल एक व्यक्ति विरक्त रह जाता है ट्रेजेडी का प्रतीक-सब कुछ छोड़ कर मात्र एक व्यक्ति जो व्यक्ति का गौरव और व्यक्तित्व प्रसारित करने में भी लज्जा समझता है वह रहना चाहता है कि वह नहीं है, उसके रहने को 'क्या वह है' तो वह होना भी नहीं पसन्द करता।

पर विरक्त क्या मानव होता है? हो पाया है कभी? कलाकार की इस आशा से निराशा टपकती है। क्या जीवन की चरम परिणति में पलायन है? जयंत, प्रमोद इसीलिये समष्टि के व्यक्ति नहीं हैं, व्यक्ति की समष्टि भी शायद हों। इसलिए वह नारी का चरित्र है, उपन्यास का नहीं।

(१९५५)

—❀—

हिन्दी साहित्य का नया कदम

साहित्य की विशाल धारा में न किसी वाद का जन्म होता है और न मरण। वह तो साहित्य और समकालीन जीवन के विकास की अभिव्यक्ति है। भले ही आलोचक उसका नामकरण कोई वाद विशेष क्यों न करें। हिन्दी साहित्य में भी परिस्थिति के अनुसार अभिव्यक्ति होती रही पर उससे कम या वेश परिस्थिति से कटकर इधर उधर की अभिव्यक्ति भी हुई। उसका होना भी अनिवार्य था, होना भी चाहिये। क्योंकि कुछ में Hudson की यह उक्ति चरितार्थ होती थी-"Without sincerity no vital work in literature is possible." बात यह है कि साहित्य "It is fundamentally an expression of life through the medium of literature." ए० सी० ब्रैडले ने भी कहा है—"वही कविता (साहित्य भी-जोर मेरा है) अच्छी हो सकती है जिसका संबंध वर्तमान से हो। उसके विषय कुछ भी हों, किन्तु कविता में ऐसी अभिव्यक्ति होनी चाहिए जिससे जान पड़े कि कवि पाठक में संबंध है।" फलतः उस "कृति में समाविष्ट उपमाएँ, रूपक, काव्य के कथन, प्रकारों, प्रतीकों तथा कल्पना चित्रों के पीछे युग की जीवित सामयिकता का आलोक हो।" "To seek even material refractions to transmute into poetry words and phrases which have not been used." तभी तो उसमें मर्म और वास्तविकता होगी। इसका उदाहरण परंपरागत साहित्य है।

आदि काल अगर समकालीन परिस्थिति से उत्पन्न वीर रसपूर्ण शृंगार मिश्रित रचना का काव्य है तो भक्ति काल भी कबीर, तुलसी, सूर इत्यादि के गीतों में गूंजता तत्कालीन भक्ति आन्दोलन से कम गौरवान्वित नहीं जान पड़ता। रीति काल का भी महत्व और स्थान साहित्य में रहा है, पर उसको न तो आँख मूंद कर लांछित ही किया जा सकता है और न प्रशंसित ही। क्योंकि जहाँ उस युग के कवियोंकी प्रतिभा पर स्वस्थ चेतना का कलंक लगेगा, वहीं उस पर समकालीन वातावरण का पैबंद भी लगाया जा सकता है। भारतेंदु युग को भी आना था, जो हिन्दी का क्रान्ति युग भी कहा जा सकता है। रीतिकाल

की कुहेलिका को चीरता हुआ 'चन्द्र' सूर्य के रूप में उदय हुआ। निस्संदेह राष्ट्रीय जागरण की युगानुभूतियाँ इस युग के साहित्य में मिल सकती हैं। द्विवेदी युग में अवश्य साहित्य की धारा को साहित्य 'शिल्पी' ने जीवन से दूर रख कर गढ़ने का प्रयत्न किया, लेकिन जिस प्रकार एक उपन्यासकार अपने उपन्यास का अंत सोचता तो कुछ और था पर हो कुछ और गया, उसी प्रकार की बात द्विवेदी-युग के साथ भी हुई। द्विवेदी-युग को चीरकर भाषा और भावदोषों ने तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न असंतोष की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप छायावादी सूक्ष्मता को ग्रहण किया; छायावाद का आन्दोलन कुछ ही दिनों तक चल पाया था कि समय की बढ़ती धारा ने उसके पैर उखाड़ दिये और प्रगतिवाद ने समय का गीत गाना प्रारंभ किया। तभी द्वितीय विश्व युद्ध से क्लान्त मानव चेतना का सांस्कृतिक, साहित्यिक, आर्थिक ह्रास के प्रतिक्रिया स्वरूप जो अदूरदर्शी घुटन की अभिव्यक्ति क्रांति पथ के कवियों में प्रतिफलित होने लगी उसका बलात नामकरण प्रयोगवाद पंडितों ने करना चाहा। खैर, साहित्य की धारा फिर भी बढ़ी। कुछ ने प्रयोगवाद के माध्यम से प्रगतिवाद की धारा, जो समय के साथ गद्य और पद्य दोनों में समानरूप से चल रही थी और आज भी चल रही है, अवरुद्ध करना चाहा परन्तु समय का उत्तरदायित्व वहन न करने के कारण उतनी बड़ी संज्ञा से विभूषित न हो सका जितनी बड़ी संज्ञा से विभूषित उसे होना चाहिए था। हाँ, प्रगतिवादी साहित्य एवं साहित्यकारों में इस बीच कुछ समय के लिये जो व्यवधान उपस्थित हो गया था, (और जिसके कारण ही प्रयोगवाद को मौका मिला) इससे कुछ उलझन पैदा हुई और 'किधर जायें ?' के प्रश्न ने पाठकों एवं साहित्यकारों को झकझोर डाला। और तब प्रगतिवादी अपनी आत्म आलोचना के लिए प्रस्तुत हुए; अवश्य आत्म आलोचना का कुछ असर तो हुआ। प्रगतिवाद की 'धारा' मात्र पार्टी प्रचार और संकुचित समाज शास्त्रीय विचार धारा से निकलकर एक नई स्वस्थ जन चेतना को चूमने आगे आई, जिस प्रत्यक्ष जन चेतना का पल्ला वह बहुत कुछ छोड़ चुकी थी। ॐ

ॐ (देखें:—"साहित्य में संयुक्त मोर्चा"—अमृतराय, "प्रगतिशील साहित्य के मान दण्ड"—रांगेय राघव)

उस जन चेतना के अनुकूल उसकी रचना न होने के कारण वह विकृतियों और मायूसियों का एक चित्रमात्र थी, उसमें ह्रासकालीन कला और विशृंखल संगीत का चिन्ह परिलक्षित होता था। इसीलिये इस साहित्य को कभी तो प्रगतिवाद और कभी प्रयोग-वाद कहा जाता रहा। पर जिसके आगे-पीछे एक सुदृढ़ साहित्य रचना का विशाल भांडार था—"निराला की 'बेला' और 'नये पत्ते' आज की नयी यथार्थवादी कविता का नेतृत्व करने वाली कृतियां हैं। भाव में, छन्दों के प्रयोग में, सब में ये कविताएँ हमारी नयी कविता को राह दिखलाती हैं। पीड़ित जनों की यथार्थ पीड़ा उनका सच्चा आक्रोश अत्यन्त सीधी सादी खांटी जबान में इन कविताओं में उभर कर आया है" (अमृतराय) इस नई जन चेतना से सिक्त होकर मानव आज तेजी से मुक्ति की ओर बढ़ रहा है। उसकी बेड़ियाँ टूट रही हैं, वह शोषण, गुलामी एवं पूँजीवादी समाजव्यवस्था से मुक्ति चाहने के लिए संघर्ष करता हुआ विजयी हो रहा है। इसीलिये उसके मधुर प्रणय-गीतों में भी नयी जिन्दगी का स्वर और नयी आशा एवं विश्वास है—

"दूँगा कभी प्यार जीवन का आता रथ अब तो नवीन का
नया सबेरा, नयी जिन्दगी, आज पुरातन क्षार न मांगो।
टूटे दिल प्यार न मांगो।"

'अश्क,' शील, नागार्जुन, केदार, शंकर, शैलेन्द्र, कन्हैया, सुन्दर, अशान्त, उपेन्द्र, राजेन्द्र शर्मा, चन्द्र प्रकाश, नरेन्द्र, त्रिलोचन, सुमन रांगेयराघव इत्यादि इस नये विश्वास से गाते जा रहे हैं—

"कोई चाहे या न चाहे बीज सी इस जिंदगी को
वृक्ष सा लदना पड़ेगा फूल से, रसदार फल से
नित्य ही लदना पड़ेगा जिंदगी को गीत से गढ़ना पड़ेगा।"*

प्रगतिवाद के इस नये विकास ने आज प्रयोगवाद के तुच्छ रूप को भी विलीन सा कर दिया है। और जो कोई प्रगतिवाद पर यह आक्षेप करते हैं कि प्रगतिवाद का अपना खण्ड काव्य और महाकाव्य नहीं उनके प्रश्नों का भी उत्तर आज स्वतः नई जनवादी पीढ़ी दे रही है। प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य को इसबीच उत्कृष्ट महाकाव्य और खण्ड-काव्य दिया है—मुक्तक कविताएँ तो बहुत अधिक हैं—इन काव्यों में

---

* नया पथ से।

श्रेष्ठ श्री उपेन्द्र नाथ 'अश्क' लिखित 'बरगद की बेटी,' 'चाँदनीरात और अजगर', रागेय रांघव लिखित 'मेधावी' इत्यादि प्रमुख हैं। 'बरगद की बेटी' एक रूमानी काव्य ग्रंथ होने पर भी आज के जन संघर्षों से संयुक्त है। "चाँदनी रात और अजगर" के पात्र अधिक विश्वास और साहस के साथ गाते चले जा रहे है—

"प्राण आज हम श्रम करते हैं उस अभिनव युग को ले आने
जिसमें हर श्रमजीवी अपना बल, अपनी सत्ता पहचाने
शक्ति-पुंज, सुख संचित जीवन एक नया लायेगी
..............अभिनव शक्ति हमारी।"

इन कविताओं के संबंध में (अश्क की कविता को छोड़कर) मेरी एक आशंका है—विशेषकर फुटकर कविताओं के संबंध में—नई जनवादी पीढ़ी का कलाकार अपनी अधिकांश कविताओं में मात्र नवीन, नवीन की पुकार करता है परन्तु वह गंभीरता, मार्मिकता एवं वैज्ञानिकता के साथ-साथ नवीनता को प्रस्तुत नहीं करता। यह दोष 'केदार' की कविता के जिसे मैंने उद्धृत भी किया है, वे साथ भी है। इसके लिए मैं कविता में मात्र Abstract ही नहीं बल्कि छोटे मोटे सूक्ष्म भागों—का भी पक्षपाती हूँ। (भाव का अर्थ छोटी घटना और कथा भी है) वैज्ञानिकता और मार्मिकता के साथ नवीनता को बहुत अंश में अश्क ने 'दीप जलेगा' में चित्रित किया है। वहाँ नवीनता के नाम पर यथार्थ को भुलाकर पलायन करने का प्रयास नहीं है। पर इधर की कतिपय नवीन कविताओं में यह दोष है। हो सकता है, मेरा ऐसा दृष्टिकोण कुछ भ्रमपूर्ण भी हो, इसलिए मैं चाहता हूँ कि प्रगतिवादी आलोचक गंभीरता से इस पर विचारें और अपना निर्णय दें।

कुछ उपन्यासों में नयी प्रेरणा को ग्रहण करते हुए स्पष्ट दृष्टिकोण दिखाई देता है। अमृतराय के 'बीज' में उसका नायक 'सत्यवान' पुलिस द्वारा जख़मी की गयी अपनी पत्नी से कहता है—"इस घाव में हमारे नये जीवन के विराट अश्वत्थ का बीज छिपा है, हमारे नये सुख का बीज, नये प्रभात का बीज। इस स्वयंवर बेला में हम उस प्रभात को प्रणाम करें।" हिन्दी के प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने नागार्जुन के नवीन उपन्यास "नई पौध" की आलोचना करते हुए इसी जागरण की ओर संकेत किया है—"परम्पराएँ और संस्कार टूट रहे हैं। भूमि से कटकर किसान अलग हो रहा है, और शहर में

जाकर नौकरी करता है। संघर्ष की चेतना बढ़ रही है और नई पौध अधिक दिन पुरातन का आतंक और शोषण नहीं बर्दाश्त करेगी।"

नागार्जुन, अश्क, अमृतराय, लक्ष्मी नारायणलाल इत्यादि के उपन्यास इस जन-जागरण से ओतप्रोत प्रेमचन्द की परंपरा के कुछ नये हस्ताक्षर हैं।

कथा साहित्य में सन् ४० के बाद अथवा प्रेमचन्द के बाद मनोविज्ञान के नाम पर डी० एच० लारेंस, युंग, फ्रायड, एडलर, कोनार्ड, ज्विग, इत्यादि के आधार पर जिस साहित्य द्वारा जनता को भरमाकर मायूस, विकृत, निष्क्रिय एवं प्रतिक्रियाशील बनाया-जा रहा था, उसकी घटा अब फट चुकी है और ऐसा लगता है कि उसको नई जनवादी धारा दबा चुकी है। हाल ही में बिहार के जनवादी कहानीकार श्री श्यामल किशोर झा, बी. ए. की कहानी पुस्तक "इन्सान की जिन्दगी" पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए नागार्जुन ने लिखा था—"झा जी के रूप में उत्तर बिहार में एक समर्थ (जनवादी—यह शब्द मेरा है) कहानीकार का उदय हुआ है।" डा० रामविलास शर्मा ने भी इसी प्रकार की आशा प्रकट की है। वास्तव में मैंने भी अनुभव किया है कि अभी बिहार में जो बेकारी, बेदखली, जमींदारी, नहर रेट, सिंचाई कर, इत्यादि के खिलाफ किसानों एवं मजदूरों का संघर्ष चल रहा है, उसकी धड़कन और उनकी जीत का जीवन्त रूप हमें श्यामल जी की कहानियों में मिलता है। स्वयं लेखक भी उक्त संघर्ष के नेताओं में एक हैं, इसलिये उनकी कहानियों में अनुभूतियों की सचाई और प्रौढ़ता के कारण कला का मर्म है।

सर्व श्री सुधाकर पांडेय, प्रेमकुमार, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, रेणु, प्रो०-केदार राम गुप्त, प्रताप साहित्यालंकार, खगेन्द्र प्रसाद ठाकुर, महेश्वर, वारिद, मुकुल, अनुज, आशुतोष आदि का स्वर सशक्त साहित्यसाधना का परिचायक है। विशेष रूप से नवयुवक प्रेमकुमार, अनुज और प्रो० केदार राम गुप्त अल्प प्रकाशन के बावजूद भी आधुनिक साहित्य में जिस तीव्र व्यंग्य और यथार्थ का प्रयोग कर रहे हैं, वह उल्लेखनीय है।

साहित्य का यह नवीन विकास लोक-संस्कृति, लोक-भाषा, लोक-संघर्ष और शान्ति की ओर तेजी से हो रहा है। लोक संस्कृति की

छटा हम नागार्जुन एवं निराला के साहित्य में आसानी से देख सकते हैं।

समालोचना एवं अन्य कला प्रकार भी इस प्रत्यक्ष लोक संस्कृति की आशावादी चेतना को देखते हुए साहित्य में गेटे एवं इलियट की भाँति समकालीन भावों की भी अभिव्यक्ति चाहता है। इसीलिये समालोचकों के भिन्न स्वर में भी आज समग्रता दिखाई पड़ती है।

"आलोचना बन्धु" भी अपने ज्ञान प्रसार में लगे हुए तेज़ी से मार्क्सवादी-जनवादी पीढ़ी की ओर बढ़ रहे हैं, लेकिन फ्रायड, इलियट, जुंग, अरविन्द, अति यथार्थवाद, प्रकृतिवाद इत्यादि साहित्यिकों के विचार एवं सिद्धान्तों का मोह न त्याग सकने के कारण कुछ अपनी निजी मान्यता प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। संपूर्ण रूप से नई जनवादी पीढ़ी की स्थापनाएँ सभी कला प्रकारों में अधिक मजबूत होती जा रही हैं। और नई प्रतिभाएँ जीवन को निकट से देख रही हैं, देखना भी चाहिए—क्योंकि—"भविष्य में साहित्य को जीवन में समाना होगा, उसी से, उन्हीं की भाषा में निकलकर, उन्हीं के लिए बनना होगा। अन्यथा वह जीवित नहीं रह सकता। मैं ऐसी बात सभी कलाकार एवं सभी कलाप्रकार के संबंध में कहता हूँ। पर जो कलाकार जीवन को मात्र किताबी अध्ययन से देखना चाहेगा और सिद्धान्त के कठघरे में कथानक रखकर अथवा मात्रकल्पना द्वारा (फिट कर) साहित्य रचना करेगा उसे असफलता हाथ आयेगी; जो जीवन में प्रविष्ट होकर जीवन देखेगा और समस्या का समाधान खोजेगा, और जो शान्ति, प्रगति, आज़ादी एव जनवाद का पक्षधर है वह प्रेमचन्द के रूप में पूजा जायगा। अभी तो वस्तुतः प्रेमचन्द ऐसे कलाकार की आवश्यकता है।" †

(१९५४) † (देखें "भारती"—सम्पादकीयः बेचन)

तुलसी-दर्शन

[आधुनिक युग के आलोचक की महाकवि तुलसीदास की स्वर्गीय-आत्मा से भेंट होती है। आलोचक बाग में वृक्ष की एक डाल का सहारा लिए खड़ा है।]

आधुनिक आलोचक—नमस्कार बाबा !

तुलसी—सानन्द रहो बच्चा ! राम राम, राम राम।

आ० आ०—बाबाजी, आज मैं आपकी रचनाओं के विषय में कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ। बात यह है कि विविध आलोचकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न विचारधाराओं की कसौटी पर आप की रचनाओं को परखने की चेष्टा की है। मैंने उनका गंभीर अध्ययन किया है फिर भी मैं किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका हूँ। इसलिए मैंने निश्चय किया कि अच्छा हो आपकी स्वर्गीय-आत्मा से ही आपकी रचनाओं के विषय में कुछ प्रश्न पूछूँ।

तुलसी—धन्यवाद बेटा, मैं अवश्य तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँगा। पर अधीर न होना, जो बोलूँ उनका मनन करना, जो समझ में नहीं आये, पूछना।

आ० आ०—क्या आपकी रचनाओं को मैं सामन्तकालीन रचना कह सकता हूँ ? सामन्तकालीन रचना से मेरा तात्पर्य है आपकी रचनाओं में सामन्तों के प्रति श्रद्धा की भावना।

तुलसी—हँ, हँ, हँ, हँ, सो तो तुम लोग कहोगे ही। नवयुवक हो, मार्क्स और एन्जेल्स की तुला पर तुम मेरी रचनाओं को तौलना चाहते हो। लेकिन मार्क्स और एन्जेल्स का दर्शन जिस आधार पर खड़ा है उसकी आत्मा में पैठ कर जब तुम मेरी रचनाओं का अध्ययन करोगे तब तुम्हें मेरे दर्शन का पूर्ण परिचय मिल सकेगा। मैंने राजा राम की प्रशंसा नहीं की है—उनके समन्वय की भावना, उनकी लोक-हितकारी-भावना तथा समदर्शिता की प्रशंसा की है। उसी के प्रति मेरी भक्ति है। मैंने जिस राम-राज्य की प्रशंसा की है, वस्तुतः वह राम-राज्य नहीं वरन् उसके बहाने मैंने तुम्हारे साम्यवाद का समर्थन किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं कम्यूनिष्ट हूँ। मैं कोई भी इष्ट नहीं हूँ। मैंने शुद्ध

कला की उपासना की है, इसलिए मैंने पहले ही लिख दिया है— "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।" फिर भी मैंने युग का साथ दिया। तत्कालीन परिस्थिति को मैंने चित्रित करने की चेष्टा की है। हाँ, यह अवश्य है कि मैंने मर्यादा और आदर्श को अधिक स्थान दिया है जो भारतीय दर्शन और संस्कृति का प्रतीक है।

इतना मैं कह चुका। अब तुम्हारी मर्जी है, तुम मेरी रचनाओं को जो समझ लो।

आ० आ०—लेकिन बाबाजी, मानस में कुछ ऐसे वर्ग की उपेक्षा है जिसकी उपेक्षा आपको नहीं करनी चाहिए थी ?

तुलसी—क्या उन वर्गों के लोगों का तुम नाम गिना सकते हो ?

आ० आ०—जी हाँ, क्यों नहीं; जैसे नारी, शूद्र इत्यादि। क्या ये समाज की इकाई नहीं ?

तुलसी—समाज की इकाई अवश्य हैं, पर मैंने इनके प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई है। तत्कालीन परिस्थिति में नारी का व्यक्तित्व अत्यन्त गिर चुका था इसलिए मुझे ऐसा लिखना पड़ा। फिर भी मैंने उन नारियों की प्रशंसा की है जिनमें वास्तविक गुण थे जैसे सीता, अनुसूया, कौशल्या आदि।

क्या आज के यथार्थवादी लेखक ऐसा नहीं करते ? क्या वे नारियों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक के बदले केवल आदर्श रूप में ही करते हैं ? अगर वे ऐसा करते हैं तो वे कला के साथ, जीवन के साथ धोखा करते हैं। प्रेमचन्द को तुम आदर्शवादी मानते हो, यथार्थवादी भी मानते हो। इस कलाकार ने मेरे सिद्धान्त को दूसरे रूप में अपनाया, जो सही है। क्या इन्होंने 'गबन' उपन्यास की सृष्टि नारी की आभूषण प्रियता एवं लोभ के कारण नहीं की ? क्या यह नारी के उस चरित्र का उद्घाटन नहीं है जिसके कारण पत्नी पति को नाश की ओर ले जाती है।

मैं कुछ बहक गया। अब दूसरा प्रश्न करो।

आ० आ०—आपने राजा को ईश्वर का अंश कहकर उस साम्राज्यवादी एवं सामन्तकालीन प्रवृत्तियों के प्रति आस्था दिखायी जिनकी आड़ में मुगलबादशाह प्रजा पर अत्याचार कर रहे थे। आपको इसी के विरुद्ध वर्गचेतना की सच्ची आकांक्षा, बगावत की आवाज बुलंद करनी चाहिए थी। कवि की वाणी युगवाणी होती है। वह मानवता का पथ

प्रदर्शक है—उसे आप भूल गये थे या यह नियम उस युग में कवियों पर लागू नहीं था ?

तुलसी—ये बातें तो तुम्हें राजा के संबंध में कही गयी मेरी सभी बातों पर गौर करने से अच्छी तरह समझ में आ जायँगी। मैंने राजा को ही ईश्वर का अंश नहीं माना है बल्कि उसके महत् कार्य की ओर मेरा इशारा है। अगर उस महत् काय को करने में राजा असफल है तो उसे कोई भी हक नहीं कि वह राजा रह सके। राजा से मेरा मतलब केवल राज धारण करने वाले से ही नहीं, तुम इस कोटि में अपने स्टालिन, माओ, नेहरू इत्यादि को भी ले सकते हो।

तुम्हारे दूसरे प्रश्न का उत्तर कुछ टेढ़ा है। यह सच है कि मैंने उस समय प्रत्यक्ष रूप में तत्कालीन अन्यायी मुगल-सल्तनत के खिलाफ बगावत करने के लिए जनता को नहीं उसकाया।

लेकिन "मानस" का राजा क्या लोक-पालक नहीं, लोक-रंजक नहीं, प्रजा वत्सल नहीं ? "मानस" का राजा प्रत्यक्ष रूप में वही राजा है जिसकी कल्पना उसके सभी वर्ग कर रहे थे। वह तो तत्कालीन मुगल-सम्राट् की स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता, स्वार्थपरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया रूप में मेरे द्वारा अनुभूत और "मानस" में अभिव्यक्त हुआ। मानस के राजा में एकतन्त्र, प्रजातन्त्र, गणतन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद आदि के गुण हैं, अवगुण किसी के नहीं। हाँ, यह कह सकते हो कि उसका नाम "राजा" क्यों दिया, प्रेसिडेण्ट, राष्ट्रपति आदि क्यों नहीं दिया ! परन्तु 'राजा' शब्द गणतन्त्र में भी प्राचीन-काल से प्रयुक्त होता आ रहा है। लिच्छवियों के ७७०० सदस्य राजा ही कहलाते थे। गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोधन राजा ही कहलाते थे परन्तु थे गणतन्त्र के शासक।

अब रही बगावत की बात। मैं तो भक्त कवि था; मुझे राजनीति से अधिक भक्ति ने कवि बनाया। तीसरी बात है—मुगलों का नादिरशाही राज्य। उनके पास कोई कानून नहीं। यदि मैं उनके खिलाफ जान हथेली पर लेकर कविता लिखना शुरू करता तो संभव था तुम मानस का दर्शन नहीं कर पाते। और मैं केवल कागजी क्रान्ति को क्रान्ति नहीं समझता। आज तुम्हारे बीच भी बहुत से कवि होंगे जो सूट-बूट पहन कर मजदूरों और भिखारियों का चित्रण करते हैं जिनका उनको तनिक भी अनुभव नहीं। लेकिन अगर उनके सामने एक रिक्शेवाला अपनी वाजिब मजदूरी मांगने लग जाय तो वे उसे वाजिब तो क्या गैरवाजिब

मजदूरी भी देना पसन्द नहीं करेंगे । मैं ऐसे लेखकों को ढोंगी समझता हूँ ।

आ० आ०—अब यह मेरा अन्तिम प्रश्न होगा बाबा जी ! आज के युग में जब छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, रहस्यवाद, हालावाद, रोमांसवाद इत्यादि की भरमार होने लग गयी है, तो इस परिस्थिति में लेखक को किस वाद का साथ देना चाहिए ? मैं तो इन वादों से घबड़ा गया हूँ, बाबा जी !

तुलसी—अभी बच्चे हो न, घबड़ाओगे ही ! मेरा अपना व्यक्तिगत उद्देश्य है कि तुम ऐसे मार्ग की ओर बढ़ो जिसमें लोक-कल्याण की भावना हो, शुद्ध कला की उपासना हो और मानवता का महान् भविष्य हो ; इसका उदाहरण मेरा मानस है, प्रेमचन्द का साहित्य है, रवीन्द्र का साहित्य है, जिस कारण ये चीन, रूस ऐसे साम्यवादी देशों में भी आदर की दृष्टि से देखे जा रहे हैं ।

आ० आ०—मैंने आप को बहुत कष्ट दिया बाबा जी ! अब मैं आपकी आत्मा से प्रार्थना करूँगा कि वे अपने वासस्थान में चली जायँ । प्रणाम !

तुलसी—खुश रहो बच्चा ।

(तुलसी की आत्मा चली जाती है)

[१६५२]

हिन्दी कविता और नये कवि-रूप

कविता की परिभाषा युगों से विद्वान देते चले आ रहे हैं लेकिन इन परिभाषाओं का रूप कभी-कभी इस प्रकार विकृत होने लग जाता है कि पाठक कठिनाई में पड़ जाते हैं। संस्कृत साहित्य के विद्वानों की परिभाषा का अध्ययन करें --अंग्रेजी की परिभाषाओं की तुलना मिलायें, विचित्र द्वन्द्व दोनों में पायेंगे। फिर भी, ऐसा लगता है कि परिभाषा के इस जटा जाल में दोनों साहित्य महारथी, एक ही बातको कुछ हेर-फेर कर कहने की कोशिश करते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने कहा—"रमणीकायार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्", "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्", शब्दार्थौ सहितौ काव्यं इत्यादि! अंग्रेजी वालों ने कविता की परिभाषा दी— "But the thought and words in which emotion spontaneous embodies itself" 'we will call it musical thought', "In a general sense may be defined as the expression of the imagination, the language of the imagination to the passions," "poetry is the criticism of life", "the rhythmic creation of beauty"

परिभाषाओं के इस दलदल में कविता का रूप सदा विकृत होकर फँस जाया करता है। आलोचक आलोचनाएँ करने बैठता है, और किसी परिभाषा को लेकर किसी कवि को शृंगारिक, असामाजिक व्यक्तिवादी, छायावादी, प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी इत्यादि कह देता है! अंग्रेजी साहित्य में तो जब जब नया वाद उठ खड़ा होता है, लोग नई-नई परिभाषाएँ कविता की कर डालते हैं, और तब लोग वास्तविक अर्थ में यह समझ ही नहीं पाते हैं कि कौन सी कविता-कविता है और कौन सी कविता कविता नहीं है। क्योंकि आज की कविता कल एक कागज के टुकड़े से अधिक नहीं रह जाती और कल की कविता आज के लिए एक महत्वपूर्ण कृति सिद्ध होती है। लेकिन कुछ कविता और काव्य ऐसे भी हैं जिनका किसी भी अवस्था में सम्मान नहीं हो पाया है, और शायद होगा भी नहीं। यही है महान काव्य की कसौटी। इस महान काव्य की कसौटी के संबंध में मैं आगे प्रकाश डालूँगा। काव्य के

साथ इस प्रकार का मतवैभिन्न क्यों होता है, यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है। फिर भी भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति के विद्वानों ने जिस रस पद्धति को अपनाया है, जब हम उसकी तुला पर किसी भी कविता को तौलने लगते हैं, तब कविता का सही अर्थ आसानी से स्पष्ट हो जाता है। पर अन्य किसी भी साहित्य में इतना कोई ठोस सिद्धान्त नहीं। अन्य साहित्य के विद्वान परिभाषाएँ देंगे और परिभाषाएँ जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ "वाद विशेष के अनुसार" बदलती रहती है। इसीलिए लोग जिसे आज कविता कहेंगे, कल उसे पागल का प्रलाप सिद्ध करने का प्रयास करेंगे। रस शास्त्र ऐसा व्यापक सिद्धान्त अंग्रेजी साहित्य में नहीं है, वे इसकी पूर्ति Aesthetic experience नामक सिद्धान्त के द्वारा करते हैं जिसका संबंध सौन्दर्य से है। रसशास्त्र का एक अंग्रेजी नामकरण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं अर्थात इसकी व्याख्या करते हैं, जिसे सौन्दर्यशास्त्र के अतिरिक्त वासनात्मक मादकता कहना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। इसका वस्तुतः अंग्रेजी साहित्य में कोई स्थान नहीं! इस प्रकार की व्यापक शास्त्रीय कल्पना अरस्तू से लेकर इलियट तक, किसी भी समीक्षक ने नहीं की है।

रस और कविता

अब आप इस के संबंध में विचार करें—कितना स्वाभाविक है। यहाँ मनुष्य की सारी भावनाएँ, उसके राग-द्वेष-नीति-अनीति सभी इस नवरस के अन्तर्गत आ जाते हैं। अगर हम इन रसों की जाँच वैज्ञानिक ढंग से करें तो पायेंगे कि उसमें बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य छिपा हुआ है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने जरूरत से ज्यादा इसकी व्याख्या की है। विभिन्न विद्वानों ने अपनी प्रयोग-शाला में रस सिद्धान्त पर प्रयोग किया, और यह चिरंतन सिद्ध हुआ है क्योंकि सदियों बाद भी जब कविता की नवीन धारा बहने लग जाती है, वह भी इस रसधारा के बाहर नहीं जा पाती। शायद इसका विस्तृत क्षेत्र देखकर ही आचार्यों ने "रसो वैसः" कह दिया था। कोई कविता मनुष्य की भावनाओं एवं जटिल से जटिल समस्याओं का उद्घाटन क्यों न करें, सभी इन्हीं नवरसों के अन्तर्गत आ जाती हैं। उदाहरण स्वरूप प्रगतिवाद को लें—हिन्दी साहित्य में छायावाद तक तो रस की बात ठीक ही रही लेकिन जब प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ तब कतिपय बिद्वानों ने इस वाद को रस विरुद्ध एवं प्रगतिवाद से 'ब्रह्मानन्द सहो-

दर' की प्राप्ति न होने का दोषारोपण किया। क्योंकि उस साहित्य का विषय अक्सर निम्न कोटि का जीवन ही रहा करता है अथवा यों कहें कि वह झूठी देव-पूजा के लिए साहित्य नहीं रचता, सामाजिक यथार्थ का प्रचार करता है, वह क्रान्ति और शान्ति की सीख देता है, उसका नारा प्रतिक्रियाशील शक्तियों के विरुद्ध है वह वर्गहीन समाज में विश्वास करता है इत्यादि।

अब आप प्रगतिवाद के क्षेत्र एवं सीमाओं पर ध्यान दें—मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन प्रगतिवाद से संबंधित है। रसवादियों ने जो नवरस साहित्य में माने हैं वे इसी जीवन के अन्तर्गत हैं, और उस जीवन में एक साधारण व्यक्ति का भी जीवन महत्वपूर्ण है एवं एक असाधारण व्यक्ति का भी। यही जीवन जब विभिन्न दिशाओं से गुजरता चलता है तब वही साहित्य का विषय बन जाता है—सुन्दर, असुन्दर भी। इसीलिए ही तो प्रेमचन्द ने लिखा था—"मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक शान्ति मिलती है।" और पंतकी अभिव्यक्ति भी उसी प्रकार की है—

"आज असुन्दर लगते सुन्दर
पर पीड़ित शोषित जन।"

यहीं पर प्रगतिवादियों और अन्यवादियों में झगड़ा उठ खड़ा होता है। एक 'वाद' कहता है—सुन्दर का ही चित्र दो, जो हमें रमा सके और वह 'वाक्य' रसात्मक भी हो, क्योंकि साहित्य इनके लिए मनो-रंजन का साधन है, फलतः उस रसात्मकता को वह अपने संकुचित ज्ञान के कारण केवल विरहियों के विरह एवं शकुन्तला तथा मेघदूत ऐसे ग्रंथों में ही देखना चाहता है क्योंकि उसने उदारता से रस सिद्धान्त की व्याख्या कर अध्ययन को व्यापक नहीं बनाया है। लेकिन समझने वालों को रस तो गरीबों की आह और चीत्कार में भी प्राप्त होता है, जो उसकी भूख की पीड़ा का परिणाम है। क्या हम इसे करुणरस नहीं कह सकते ? वाल्मीकि ऐसा कठोर हृदय मानव भी तो—क्रौंचकी ऐसी ही दशा देखकर कवि बन गया था—और वह काव्य "वाक्यं रसात्मकं" है। इसकी सफल अभिव्यक्ति एवं अनुभूति जभी होगी तभी उसमें रस आ जायगा। ये बातें और ज्यादा साफ हो जाती हैं जब मेरे सन्मुख महाकाव्यों के लक्षण साहित्यदर्पणकार उपस्थित करते हैं। उन लक्षणों में कतिपय संशोधन करने के बाद वह लक्षण हमारे लिए

उपयोगी सिद्ध होता है। संशोधन इसलिए कि साहित्यदर्पणकार का युग कोई बड़ी समस्या का युग नहीं था। इसलिए उन्होंने आज के प्रश्नों का समाधान अवश्य अपने लक्षण में उपस्थित नहीं किया, फिर भी कहा गया है कि महाकाव्यों में सभी प्रकार के रसों का समावेश हो, सभी दृश्य हों—नायक वही हो जिसमें धीरोदात्त (जिसे प्रगतिवादी नेता मानते हैं) पात्रके गुण हों, खलों की निन्दा हो (जिसे प्रगतिवादी प्रतिक्रियाशील शक्ति मानते हैं) तथा जीवन की सभी वृत्तियों का विश्लेषण हो। साहित्यदर्पणकार के लक्षणों से यह भी ध्वनित होता है कि महाकाव्यों में मानवता का एक संदेश होना चाहिए। इसी संदेश को प्रगतिवादी एक सुदृढ़ दर्शन मानते हैं।

"जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, रस-सिद्धान्त और प्रगतिवाद दोनों में समुदायिकता है। दोनों व्यक्ति निरपेक्ष समष्टि मूलक हैं। दोनों के मूल सिद्धान्त में विरोध की संभावना नहीं हो सकती।"

—बैजनाथसिंह विनोद, 'विशालभारत'

इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि कोई भी कविता सच्चे हृदय से निकली हुई है और उस कविता की अनुभूति में बनावट न हो तो वह किसी भी वाद की कविता क्यों न हो नवरसों से बाहर नहीं जा सकती और उससे जन साधारण को अलौकिक आनन्द की भी प्राप्ति हो सकती है उस कविता से एक ऐसी ध्वनि आती रहेगी, जिसमें मानवता का उच्च आदर्श होगा और लोक कल्याण की भावना अर्थात व्यापक मर्यादित व्यक्तित्व का परिचय उससे प्राप्त होगा।

महानकाव्य की कसौटी

अब प्रश्न होता है कि महान काव्य की कसौटी क्या है? उसकी आत्मा क्या है? कोई भी काव्य महत्वपूर्ण बनता है, अपने संदेश और सहानुभूति से। अनुभूतियों के द्वारा उसे सहानुभूति का और बुद्धि (intellect) के द्वारा संदेश का वरदान मिला होता है। संदेश और सहानुभूति की यह अभिव्यक्ति सुन्दर शब्दों द्वारा प्रकट की जाती है जिसके समन्वय से ही महान काव्य की रचना हो सकती है। शब्द विचारों का वर्णन ही नहीं करता, बल्कि वह आप से आप मस्तिष्क में विचारों और भावों को जन्म दे देता है।

अबरक्रांबी ने शब्दों की इसी प्रयोगात्मक शक्ति को "incantation कहकर पुकारा है। उनके अनुसार कविता अनुभूतियों का भाषा में

अनुवाद है।" (Poetry is the translation of experience intc language) चाउसर और शेक्सपीयर, कीट्स और 'पंत' इसी शब्द शक्ति के प्रयोग के लिए तो प्रसिद्ध हैं, 'शुक्ल' जी ने इसे बिम्ब ग्रहण कराना कहा है, जिसका सुन्दर उदाहरण कीट्स की 'लेमिया' शीर्षक काव्य की कुछ पंक्तियां हैं—"A Gorigan shape of dazzling hue vermitllion spotted, golden, green and blue."

सर्प का यह वर्णन, सर्प का जीवंत रूप खड़ा कर देता है।

'पंत' कवि—चित्रकार के रूप में गा उठते हैं—

"रूपहले, सुनहले, आम्र बौर
नीले, पीले, औ, ताम्र भौर"

कोई भी काव्य इन तीनों गुणों से युक्त होने पर ही महान कहा जायगा।

आधुनिक काव्य मूल्य स्पष्टतः द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मान्यता प्राप्त कर सके। इनका महत्व काव्य की संपूर्ण अभिव्यक्ति से ही है। इन कवियों की विचार धारा नयी स्वस्थ और जनवादी है। इनके काव्य में सचाई है इसलिए इनका काव्यात्मक महत्व है। दुनियाँ की सभी भाषाओं में ऐसे कवि एक समय प्रकाश में आते ही हैं। इनकी अभिव्यक्ति बड़ी ताजी, सचेत, और सीधी होती है इनकी कविताएँ प्रत्यक्ष जीवन से संबंधित होती हैं। ये परंपरा के पालक होते हुए भी परंपरा के "कारबन कापी" नहीं होते। इनकी कविताओं में चमत्कार उत्पन्न करने का भलेही कौशल नहीं हो पर अनुभूति सार्थक और सच है, पर ये कलाके सच्चे उपासक हैं, क्योंकि ये जीवन और मनुष्य के उपासक हैं। इनमें न तो अति है, न प्रयोग है, न यथार्थ और अयथार्थ का प्रश्न है—क्योंकि इनका मस्तिष्क साफ है। प्रश्न बन कर सिद्धान्त इन्हें भरमाते नहीं, क्योंकि ये लकीर के फकीर नहीं हैं। एक दृष्टिकोण Philosophy को मानते हैं। इसीलिए ये 'यायावर' नहीं हैं, घर के लिए लिखते हैं, अपने लिए लिखते हैं, अपने देश और समाज के लिए लिखते हैं।

इस संक्रान्तिकाल के उलझन में जब कि विचित्र दोराहे आकर कवियों एवं पाठकों को उलझाते हैं—कवि का कर्तव्य जीवन की समीक्षा और परीक्षा ही हो, जहाँ उलझन का सारा वातावरण समाप्त हो जाता है। इसीलिए उनके सामने "कविता मरती है" (?) का डर

नहीं, वे विश्वास से कविता की परंपरा आगे बढ़ा रहे हैं। वह मायूस नहीं होते। आकाश में उगते तारों के साथ-साथ वायुयान की ओर भी उनकी दृष्टि जाती है, उमड़ते बादलों के अतिरिक्त इंजिन का धुआँ भी उन्हें आकर्षित करता है। जीवन के उपकरण प्रेम, इर्ष्या, घृणा, सुधार इत्यादि सबों की अभिव्यक्ति वे करते हैं। इसीलिए उनकी भाषा जीवन की गतिशीलता लिए हुए है, इसीलिए वे बड़े नवीन भी लगते हैं—

"नये कवि कविता करने, गद्य लिखने और बातचीत के लिए अलग ढंग की भाषा नहीं पहचानते। वह ऐसी भाषा लिखता है जो बनावटी नहीं होती, कृत्रिम और आडम्बर पूर्ण नहीं होती, स्वाभाविक सरल तथा जीवन की गति से ओतप्रोत होती है। नए कवि का व्यक्तित्व कविता लिखते समय, बातचीत करते समय और संघर्ष के समय भी एक ही होता है।"

ऐसी कविता धारा के अग्रणी निराला हैं, जिसका पूर्ण विकास नागार्जुन की कविता में हुआ। समस्त नवीन कविता धारा के दीप-स्तंभ अभी नागार्जुन हैं। इनकी कविता एवं जीवन की संपूर्ण व्याख्या करने से आसानी से इस काव्यधारा की रुचियों एवं विकास की प्रक्रिया का सही अर्थ समझ में आयेगा? हिन्दी में इस धारा का अनुकरण 'प्रयोग' के नाम पर चल रहा है, वह 'प्रयोग' विकृत साहित्य ही है।

[१९५५]

प्रगति और प्रयोग

हिन्दी साहित्य का गत एक दशक का साहित्यिक इतिहास गणतंत्रोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास माना जायगा। क्योंकि इस महत्वपूर्ण घटना के बाद ही कई एक छोटे बड़े परिवर्तन भारतीय जीवन में हुए, पर इतना तो मानना ही पड़ता है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था या समाज व्यवस्था में कोई ऐसा आमूल परिवर्तन, प्रत्यावर्तन या सुधार नहीं हो पाया, जिसका गहरा प्रभाव साहित्यिक चिंता धारा पर पड़े बिना नहीं रह सकता है। राष्ट्रीयता के चरम विन्दु के स्पर्श एवं गणतंत्र की स्थापना के बाद भी गहरी राष्ट्रीय भावना भारतीयों में नहीं आ पाई, क्योंकि गणतंत्र की स्थापना के बाद भी जो उपलब्धि आज है वही गणतंत्र नहीं होने से भी हो पाती चाहे विदेशी सरकार ही भारत पर अपना शासन स्थापित क्यों न रखती फलतः राष्ट्रीयता का स्पष्ट प्रभाव साहित्य पर नहीं पड़ा। [कुछ एक छिट-फुट रचनाओं की बात मैं यहाँ नहीं करता और न राष्ट्रीय जागरण के नाम पर संकलित रचनाओं का उल्लेख करना चाहता हूँ।] वरन् मेरा ऐसा दृष्टिकोण समस्त हिन्दी साहित्य की व्यापक उपलब्धि को देखकर ही बन पाया है; यही कारण है कि चरित्रों के नये मानदंड साहित्य में स्थापित नहीं किये गये, और जो मानवीय मूल्य भावना कल तक वर्तमान थी उसमें विशेष अंतर भी दिखाई नहीं पड़ी थी।

क्योंकि आश्चर्यजनक अतिरंजित परिवर्तन हुआ भी नहीं, जो साहित्य का विषय बन सके (कुछ आलोचक देश में हो रहे राष्ट्रीय निर्माण कार्य एवं श्रीनेहरू की विदेश नीति को आश्चर्यजनक परिवर्तन मान सकते हैं) पर यह गणतंत्र की देन नहीं है, वरन् युद्धोत्तर (Post war) नव निर्माण की सामयिक चेष्टा है, जो हर देश में हो रही है, मिसाल के तौर पर रूस, चीन एवं एशिया के अन्यान्य देशों को रखा जा सकता है।

पुराने चरित्रों में कुछ ही परिवर्तन हुए, आमूल परिवर्तन नहीं हुए, आमूल परिवर्तन की विराट चेतना शक्ति अथवा आमूल परिवर्तन का व्यापक परिणाम ही विराट एवं महान् कृतियों को जन्म दे सकता है; रामायण, कामायनी, तुलसीदास (निराला) वेस्टलैंड इत्यादि महान् कृतियों का परिवेश और प्रभाव यही बतलाता है।

काव्य में व्यक्तित्व के इस व्यापक मूल्य के अभाव में खंडित व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति छिटफुट कविताओं में प्रयोग के रूप में हो पाई। गणतंत्रोत्तर हिन्दी काव्य वस्तुतः प्रायोगिक हिन्दी काव्य का इतिहास माना जायगा। गद्य के क्षेत्र में भी कई प्रकार के प्रयोग हुए हैं और किये जा रहे हैं, पर सर्वाधिक प्रयोग काव्य में हुआ इस प्रयोग को आगे बढ़ाते हुए कई एक आलोचकों कवियों ने इस कविताधारा को प्रयोगवादी कविता कह दिया, जिसे फिराक गोरखपुरी आदि प्रगतिशील कवि "झखमार वाद" भी मानते हैं। [1]आज तो इस प्रयोग वाद के निश्चित दर्शन और विचार भी बतलाये जा रहे हैं।

प्रायोगिक काव्य धारा की एक और विशेषता रही अधिकाधिक संकलनों के रूप में कवि और कविता को प्रचारित करना। कतिपय प्रतिभाशाली कवियों ने इस अनुष्ठान में भाग लिया और लेते जा रहे हैं। यद्यपि हिन्दी में काव्य संकलनों को प्रकाशित करने की परंपरा बिलकुल नई नहीं है पर इधर कुछ वर्षों में सर्वाधिक रूप से इस ओर ध्यान दिया जा रहा है। तारसप्तक, द्वितीय सप्तक, संकेत, रजनी गंधा, नई प्रतिभाएँ, [2]विद्यापति के देश में, राजधानी के कवि, नई कविता, विविधा, आदि कृतियों का प्रकाशन बढ़ता ही जा रहा है। उपर्युक्त कृतियों को देखने के बाद ऐसा लगता है कि दो प्रकार के प्रयोग आज हिन्दी में चल रहे हैं—पहला है प्रगतिशील कवियों का प्रयोग और दूसरा तथा कथित प्रयोग वादियों का प्रयोग। प्रथम वर्ग के कवि प्रगतिवादी सिद्धांतों में विश्वास रखते हुए अधिक बोध गम्य प्रयोग कर रहे हैं। उनके प्रतीक, शब्द, अलंकार और वातावरण अत्यन्त ही स्पष्ट है। प्रगतिशील काव्य परंपरा का यह नवीन विकास, एवं द्वितीय चरण है, जिसमें स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय जागरण के बाद की काव्य उपलब्धियों यथा भाव एवं शिल्प का नयापन तथा प्रयोग दिखाई पड़ता है।

द्वितीय वर्ग के कवि जो आवश्यकता से अधिक प्रयोग की अस्पष्टता में विश्वास करते हैं, और प्रयोगवाद के जीवन-दर्शन का उदाहरण पेश करते हुए केवल मानवीय संवेदना को सहलाना ही कविता में यथेष्ट समझते हैं, तथा प्रगतिवाद के बाद प्रयोगवाद को भी साहित्यिक

१—देखें "जंजीर टूटती है" की भूमिका।

२—सं–बेचन, प्रकाशक–प्रगतिशील लेखक संघ, भागलपुर।

प्रगति और प्रयोग

हिन्दी साहित्य का गत एक दशक का साहित्यिक इतिहास गणतंत्रोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास माना जायगा। क्योंकि इस महत्वपूर्ण घटना के बाद ही कई एक छोटे बड़े परिवर्तन भारतीय जीवन में हुए, पर इतना तो मानना ही पड़ता है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था या समाज व्यवस्था में कोई ऐसा आमूल परिवर्तन, प्रत्यावर्तन या सुधार नहीं हो पाया, जिसका गहरा प्रभाव साहित्यिक चिंता धारा पर पड़े बिना नहीं रह सकता है। राष्ट्रीयता के चरम विन्दु के स्पर्श एवं गणतंत्र की स्थापना के बाद भी गहरी राष्ट्रीय भावना भारतीयों में नहीं आ पाई, क्योंकि गणतंत्र की स्थापना के बाद भी जो उपलब्धि आज है वही गणतंत्र नहीं होने से भी हो पाती चाहे विदेशी सरकार ही भारत पर अपना शासन स्थापित क्यों न रखती फलतः राष्ट्रीयता का स्पष्ट प्रभाव साहित्य पर नहीं पड़ा। [कुछ एक छिट-फुट रचनाओं की बात मैं यहाँ नहीं करता और न राष्ट्रीय जागरण के नाम पर संकलित रचनाओं का उल्लेख करना चाहता हूँ।] वरन् मेरा ऐसा दृष्टिकोण समस्त हिन्दी साहित्य की व्यापक उपलब्धि को देखकर ही बन पाया है; यही कारण है कि चरित्रों के नये मानदंड साहित्य में स्थापित नहीं किये गये, और जो मानवीय मूल्य भावना कल तक वर्तमान थीं उसमें विशेष अंतर भी दिखाई नहीं पड़ी थी।

क्योंकि आश्चर्यजनक अतिरंजित परिवर्तन हुआ भी नहीं, जो साहित्य का विषय बन सके (कुछ आलोचक देश में हो रहे राष्ट्रीय निर्माण कार्य एवं श्रीनेहरू की विदेश नीति को आश्चर्यजनक परिवर्तन मान सकते हैं) पर यह गणतंत्र की देन नहीं है, वरन् युद्धोत्तर (Post war) नव निर्माण की सामयिक चेष्टा है, जो हर देश में हो रही है, मिसाल के तौर पर रूस, चीन एवं एशिया के अन्यान्य देशों को रखा जा सकता है।

पुराने चरित्रों में कुछ ही परिवर्तन हुए, आमूल परिवर्तन नहीं हुए, आमूल परिवर्तन को विराट चेतना शक्ति अथवा आमूल परिवर्तन का व्यापक परिणाम ही विराट एवं महान् कृतियों को जन्म दे सकता है; रामायण, कामायनी, तुलसीदास (निराला) वेस्टलैंड इत्यादि महान् कृतियों का परिवेश और प्रभाव यही बतलाता है।

काव्य में व्यक्तित्व के इस व्यापक मूल्य के अभाव में खंडित व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति छिटफुट कविताओं में प्रयोग के रूप में हो पाई। गणतंत्रोत्तर हिन्दी काव्य वस्तुतः प्रायोगिक हिन्दी काव्य का इतिहास माना जायगा। गद्य के क्षेत्र में भी कई प्रकार के प्रयोग हुए हैं और किये जा रहे हैं, पर सर्वाधिक प्रयोग काव्य में हुआ इस प्रयोग को आगे बढ़ाते हुए कई एक आलोचकों कवियों ने इस कविताधारा को प्रयोगवादी कविता कह दिया, जिसे फिराक गोरखपुरी आदि प्रगतिशील कवि "झखमार वाद" भी मानते हैं। [1]आज तो इस प्रयोग वाद के निश्चित दर्शन और विचार भी बतलाये जा रहे हैं।

प्रायोगिक काव्य धारा की एक और विशेषता रही अधिकाधिक संकलनों के रूप में कवि और कविता को प्रचारित करना। कतिपय प्रतिभाशाली कवियों ने इस अनुष्ठान में भाग लिया और लेते जा रहे हैं। यद्यपि हिन्दी में काव्य संकलनों को प्रकाशित करने की परंपरा बिलकुल नई नहीं है पर इधर कुछ वर्षों में सर्वाधिक रूप से इस ओर ध्यान दिया जा रहा है। तारसप्तक, द्वितीय सप्तक, संकेत, रजनी गंधा, नई प्रतिभाएँ, [2]विद्यापति के देश में, राजधानी के कवि, नई कविता, विविधा, आदि कृतियों का प्रकाशन बढ़ता ही जा रहा है। उपर्युक्त कृतियों को देखने के बाद ऐसा लगता है कि दो प्रकार के प्रयोग आज हिन्दी में चल रहे हैं—पहला है प्रगतिशील कवियों का प्रयोग और दूसरा तथा कथित प्रयोग वादियों का प्रयोग। प्रथम वर्ग के कवि प्रगतिवादी सिद्धांतों में विश्वास रखते हुए अधिक बोध गम्य प्रयोग कर रहे हैं। उनके प्रतीक, शब्द, अलंकार और वातावरण अत्यन्त ही स्पष्ट है। प्रगतिशील काव्य परंपरा का यह नवीन विकास, एवं द्वितीय चरण है, जिसमें स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय जागरण के बाद की काव्य उपलब्धियों यथा भाव एवं शिल्प का नयापन तथा प्रयोग दिखाई पड़ता है।

द्वितीय वर्ग के कवि जो आवश्यकता से अधिक प्रयोग की अस्पष्टता में विश्वास करते हैं, और प्रयोगवाद के जीवन-दर्शन का उदाहरण पेश करते हुए केवल मानवीय संवेदना को सहलाना ही कविता में यथेष्ट समझते हैं, तथा प्रगतिवाद के बाद प्रयोगवाद को भी साहित्यिक

१—देखें "जंजीर टूटती है" की भूमिका।

२—सं–बेचन, प्रकाशक–प्रगतिशील लेखक संघ, भागलपुर।

इतिहास में नाम दिलाना चाहते हैं, उनकी कविताएँ विकृत प्रयोग का उदाहरण हैं। "नई प्रतिभाएँ" काव्य संकलन पर दी गई सम्मतियों एवं भूमिका में क्रमशः डा० रामविलास शर्मा एवं प्रकाशचन्द्रगुप्त ने भी इन काव्य प्रवृत्तियों का एक वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए प्रगति और प्रयोगधारा का पार्थक्य बतलाया है, जिसके आधार पर इन कविताओं की पृष्ठभूमि को अच्छी तरह समझा जा सकता है—"इन कविताओं में अनुभव की ताजगी है। कवियों ने जो कुछ देखा-सुना है, उसे अपने ढङ्ग से व्यक्त करने का प्रयास किया है। ये नयी प्रतिभाएँ हैं; इसलिए जहाँ-तहाँ अनगढ़पन भी है। कुछ रचनाएँ ऐसे प्रयोग हैं जिन्हें समर्थ होकर कवि पीछे छोड़ आते हैं। लेकिन ये रचनाएँ प्रयोगवादी नहीं हैं। इनमें वह निराशा, घुटन और कुंठा--भाषा और छन्दों के साथ प्रयोग के नाम पर खिलवाड़—नहीं है जिसे हमारे प्रयोगवादी मित्र इस युग की और कविता की विशेषता समझते हैं और और जिसे वे "साम्यवादी आतङ्क" से सुरक्षित रखने के लिए उतावले दिखाई देते हैं। हर कवि अपने प्रारंभिक जीवन में प्रयोग ही करता है लेकिन वह आज के रूढ़ अर्थ में प्रयोगवादी नहीं होता। प्रगतिशील कवि किस स्वच्छन्दता से प्रयोग करता है, यह प्रयोगवादी मित्र इस संग्रह में देखें।"

प्रयोग के संबन्ध में जो कुछ मैंने लिखा है, उसके आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आज की प्रयोगशील कविताएँ केवल प्रयोगवादियों की ही थाती नहीं है और न सभी प्रयोग करने वाले तथाकथित प्रयोगवादी कवि ही माने जा सकते है, वस्तुतः वह प्रगतिशील काव्यधारा का ही असफल एवं सफल प्रयोगशील कवि माना जायगा—(अज्ञेय, डा० भारती इत्यादि असफल प्रयोगशील और नागार्जुन, शमशेर आदि की सफल—प्रगतिवादी, प्रयोगशील कविताओं का अंदाजा लगाया जा सकता है।) प्रगतिशील कवि नागार्जुन का ध्यान बराबर प्रयोग की ओर रहा, इसलिए वे प्रयोगवादियों का संकलनात्मक प्रयोग प्रचार से अलग रह कर भी उत्कृष्ट प्रयोग करते रहे और बहु प्रचारित प्रायोगिक जनवादी कवियों में अपना स्थान प्राप्त कर सके हैं। उनके निम्नलिखित कथन से भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि आज का प्रयोग प्रगतिशील या प्रगतिवादी काव्यधारा का ही अंग है। "कविता की नई टेकनीक में बिहार के कवि बुरी तरह पिछड़ रहे हैं,

कवि कर्म शिथिल चेतना और फूहड़ शब्द शिल्प का शिकार बन रहा हैं।"

गत कुछ वर्षों से इसी प्रयोगवाद को कुछ व्यापक बनाने के लिए नवयुवक कवियों का एकदल इसे नयी कविता नाम से प्रचारित करने लगा है।[1] उसका आग्रह है कि इसे 'आधुनिक कविता' भी नहीं कहा जाय।[2] स्पष्ट है कि प्रयोगवाद से नई कविता तक की उनकी यात्रा विचित्र, कुण्ठित और भ्रान्त यात्रा रही है और वे अज्ञेय के शब्दों में वस्तुतः "मार्ग के अन्वेषी" ही रहे हैं। मेरा विश्वास है कि आगे चल कर 'आधुनिक' नाम ही स्वीकृत होगा और प्रगतिवाद को प्रयोगशील कविता का एक कुण्ठित अंग मानना पड़ेगा।

[१९५६]

१—नई कविता—(मासिक पत्र)—सं० डा० जगदीश गुप्त,

२—कल्पना—(जनवरी, १९५६)—बालकृष्ण राव,

प्रगतिशील साहित्य और अश्लीलता

कला का जीवन मनोविज्ञान की आत्मा पर आधारित है। अगर कला मनोविज्ञान का विश्लेषण नहीं कर सकती, तो उसे सही कला नहीं कह सकते। आप किसी भी महान लेखक को लें—शेक्सपीयर, बर्नार्डशा, वाल्मीकि, प्रेमचन्द सभी मानव मनोविज्ञान के पंडित थे, (स्वाभाविक अर्थ में) जब जब कलाकार सचमुच शुद्ध कला की सृष्टि करने लग गया है, तब तब उस में सूक्ष्म अश्लीलता तो आ ही गई है, जिसे हम अश्लील नहीं कह सकते। किन्तु मनोविज्ञान के सत्य का मार्ग त्याग कर जब कलाकार एक ऐसी नग्नता का प्रचार करने लग जाता है, जो मनोविज्ञान की भूमि में ऊबड़-खाबड़ जमीन की तरह दिखाई पड़ने लग जाती है, तब उसे हम अश्लील ही कहेंगे।

आज के युग में प्रगतिशीलता को लोग अश्लीलता समझने लगे हैं। कतिपय प्रगतिशील लेखक भी इससे बुरी तरह प्रभावित हैं। प्रगतिवाद कुछ अंश तक अश्लीलता का पृष्ठ-पोषक है—जहाँ तक उसका सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। उसका काम केवल समाज की बुराइयों का प्रदर्शन कर उसके निर्माण का मार्ग खोजना है; किन्तु उसके अनुगामी जो गलती करते हैं, बिना समझे बूझे उसका प्रदर्शन उल्टी दिशा में करते हैं। अश्लीलता को लक्ष्य कर एकबार कहानीकार यशपाल ने कहा था—"लेखक प्रधानतः दो कारणों से अपनी रचनाओं में अश्लीलता लाता है। प्रथम यह कि वह पाठक के मस्तिष्क को कैपचर कर सके, द्वितीय यह कि वह समाज की विकृतियों को उघार कर रक्खे और तत्सबन्धो उसकी रचना का परिमार्जन करे।"

श्री यशपाल का प्रथम कथन ही आज के अधिकांश हिन्दी उपन्यासों एवं कहानियों के लिये सत्य है। उनकी नग्नता सामाजिक नग्नता नहीं है। वे पाठकों को भटकाते हैं, ताकि उनकी दुर्बोधता उन्हें प्रसिद्ध कर सके। इलाचन्द्र जोशी की 'पर्दे की रानी' को अन्तश्चेतनावाद का प्रतीक माना जाता है। उसमें अन्तश्चेतनावाद क्या है?—यौन अतृप्ति की घुटन। जोशी जी ने चाहे जो कुछ सोचकर लिखा हो पर कलाकृति क्या कहती है? वह मध्यवर्ग की घोर आर्थिक और सामाजिक विषमता को दिखाती है। वह मध्यवर्गी युवकों का निरुद्देश्य

जीवन बताती है।..........उसने अपने पात्रों को, जैसे वे हैं, वैसे ही बने रहने की इच्छा की है यह उसके अन्तश्चेतनावाद की भूल है—वह है समाज को बदलो मत, वह तो ऐसा ही रहेगा, जिसे बच्चन ने कभी माना था—'जग बदलेगा किन्तु न जीवन।' वर्ग संघर्ष के विरोध के लिये लेखक ने अपने पात्रों के लिये मनोविज्ञान का आधार लेकर एक न्याय खड़ा करने का यत्न किया है, किन्तु वह असफल हुआ है।..............यह तो एक विकृत मनुष्य का ही चित्रण है और इसे हमें व्यक्ति के वैचित्र्यवाद के अन्तर्गत रखना चाहिये।

इसी वैचित्र्यवाद का, परिचय 'अज्ञेय' एवं जैनेन्द्र के उपन्यासों में हमें मिलता है। डा० देवराज के 'पथ की खोज' और धर्मवीर भारती के गुनाहों का देवता' में भी हमें इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक उपन्यास इससे आक्रांत है। सामाजिक नग्नता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमें यशपाल, अमृतराय, रांगेय राघव, 'अश्क' इत्यादि की कृतियों में मिलता है।

प्रगतिवादी साहित्य के साथ यशपाल का दूसरा कथन लागू होता है यशपाल ने प्रेमचन्द के बाद समाज को अपने यथार्थवादी उपन्यास दिये। उनमें वैसा ही रोमांसवाद अपनी झलक देता रहा, जैसा कुछ-कुछ गोर्की में हमें प्राप्त होता है। यशपाल को यौनवादी कहकर उसपर आक्षेप लगाये गये हैं, जो व्यर्थ हैं यशपाल ने यथार्थ वर्णन में यौन सम्बन्धों को विकृत करने वाले दर्शनों का चित्रण किया है।

अन्तश्चेतनावाद और प्रगतिवाद के इस सूक्ष्म अन्तर को न समझ सकने के कारण प्रगतिवाद पर आलोचकों द्वारा यदा—कदा यह भी आक्षेप होता आया है—"मनोविज्ञान के नाम पर प्रगतिवाद मानव के देवत्व को ठुकरा कर उसके पशुत्व की छिपी काम वासना को उभारता है।"

ऐसे प्रश्न उन लेखकों और विद्वानों की ओर से ही किये जाते हैं, जो किसी न किसी रूप में 'कला कला के लिये' इत्यादि परिभाषाओं से प्रभावित हैं तथा प्रगतिवाद के विरुद्ध आँखें मूँदकर केवल रोष प्रगट करते हैं। द्वेष से आक्रांत ये लेखक प्रगतिवादी लेखकों को अपने से हीन समझते हैं एवं उनके सतसाहित्य का अध्ययन न करने के कारण कतिपय उछृंखलतावादी साहित्यिकों की विक्षिप्त रचना का उदाहरण देते नहीं थकते (फलतः श्री भगवती चरण वर्मा के उपन्यासों को

प्रगतिवादी उपन्यास कहा जाता है, पंत, और दिनकर को प्रगतिवादी कवि माना जाता है) जिन सभी रचनाओं को प्रगतिवादी आलोचक सर्व श्री शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव इत्यादि ने नग्न एवं प्रतिक्रियाशील साहित्य की संज्ञा दी है और जो कभी भी प्रगतिवाद की सच्ची परिभाषा के अन्तर्गत खपती नहीं है।

परन्तु नग्नतावाद का यह नाटक प्रगतिवादी साहित्य के किसी भी रंगमंच पर स्थान न पा सका और जब चारों ओर से उसपर व्यंग बाणों की वर्षा होने लगी (क्योंकि वह असामाजिक है) तब उसने अपनी एक नवीन नग्न प्रधान प्रयोगवादी धारा को जन्म देना चाहा जिसके प्रधान गुरू हैं—फ्रायड, युंग और एडलर जैसे मनोवैज्ञानिक और उनकी निधि हैं साहित्य का वह कूड़ा-करकट जिसमें अधिक से अधिक यौन भावना और मांसलता है।

मेरे तो निजी विचार इस सम्बन्ध में यही हैं कि इस धारा ने हिन्दी साहित्य में जन्म लेकर प्रगतिवाद का बहुत उपकार किया है कम से कम प्रगतिवादी साहित्य के नाम पर उत्पन्न होने वाले कोढ़ को किसी एक धारा में स्थान तो मिला। आशा है कि प्रगतिवादी साहित्य अधिक उज्जवल, स्वस्थ और सबल मार्ग पार कर साहित्य के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगा।

[१९५४]

युद्धोत्तरकालीन हिन्दी साहित्य

द्वितीय विश्वयुद्ध सम्पूर्ण विश्व साहित्य के इतिहास में अपना स्थान रखता है, क्योंकि इसका व्यापक प्रभाव सभी साहित्य पर पड़ा। भारतीय साहित्य, विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य, युद्धोत्तरकालीन एवं समकालीन युद्ध साहित्य के अनुकरण और प्रभाव का एक नमूना बन गया। इसका एक मात्र कारण था, भारतीय लेखकों की युद्ध जनित विभीषिका की अनभिज्ञता, (क्योंकि युद्ध भारतीय भूमि पर नहीं हो रहा था, ताकि उस अनुभव से ये लेखक प्रत्यक्ष लाभ उठा सकते) पर इस युद्ध का प्रभाव आर्थिक स्थिति पर अवश्य प्रत्यक्ष और गहरा पड़ा, जिसने हमारे साहित्य को बहुत कुछ बनाया और बिगाड़ा। युद्ध समाप्त होने के कुछ पूर्व बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा, देशव्यापी राष्ट्रीय क्रान्ति हुई (१९४२ की क्रान्ति), युद्ध की समाप्ति के तुरत बाद ही, सन १९४६ में देश के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये, लाखों नर-नारियों के निर्दोष प्राणों की बलि चढ़ा दी गई—यह भयंकर ट्रेजेडी संभवतः विश्वइतिहास में बेमिसाल घटना है। आगे चलकर हमें सन १९४७ में आजादी मिली और उसके बाद भी कुछ छोटी-बड़ी घटनाएँ ऐसी होती ही रहीं, जिसने सम्पूर्ण युग-मानव को झकझोर दिया। स्पष्टतः लेखक भी इससे अछूता नहीं रह सकता था, क्योंकि वह अन्ततः एक मनुष्य है। परिणामस्वरूप एक 'अनास्था' और 'निराशा', 'करने' और 'नहीं करने' की भावना व्याप्त हो गयी। जीवन के प्रति 'विश्वास' और गहरी सुनहली आशा को भी आजादी की झूठी उपलब्धियों से एक झटका लगा। इस मानसिक हलचल और कार्यसंकुल जीवन-यापन की समस्याएँ दिनोंदिन इतनी भयंकर होने लगीं कि मानव का व्यक्तित्व टुकड़े-टुकड़े हो गया अर्थात् वह एक कांच का साधारण टुकड़ा साबित हुआ, जिस पर सबों की छाया आसानी से देखी जा सकती है, पर रङ्ग किसी का नहीं चढ़ता। इससे ही मानसिक उलझन और कुण्ठाओं का जन्म हुआ। मनुष्य के प्राचीन जन्मजात संस्कार बदलने लगे, क्योंकि परिस्थितियाँ बदलने लगीं। फलतः उसके "मूल्यों का विघटन" होने लगा। इस विघटन का प्रभाव कम-वेश जीवन पर तो पड़ा ही, साहित्यिक कृतियों पर भी पड़ा है, इसीलिए आज साहित्य में 'गत्यवरोध' के प्रश्न मुखर हो उठे हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर हम हिन्दी साहित्य को भी परख सकते हैं।

प्रसाद, प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद विभिन्न धाराओं में हिन्दी साहित्य बँट गया। विभिन्न वाद और विभिन्न स्कूलों का जन्म हुआ। कुछ-एक कृतियाँ उपन्यास साहित्य में भी सामने आईं। जैनेन्द्र की 'सुनीता' (हालांकि इसका प्रकाशन प्रेमचन्द के समय में ही हो गया था, पर व्यापक प्रभाव उनकी मृत्यु के बाद हुआ) अज्ञेय का 'शेखर' इत्यादि। कविता के क्षेत्र में भी कुछ फुटकर रचनाएँ सामने आईं अवश्य, पर 'गोदान' और 'कामायनी' ने जिस साहित्यिक मूल्य की स्थापना करा दी थी, उससे अधिक आगे बढ़ कर कोई भी कृति अपना स्थान नहीं बना सकी। कुल मिलाकर इतना मानना ही पड़ता है कि साहित्यिक शिल्प और पच्चीकारी में उस समय वृद्धि हो पाई—रचना का व्यापक प्रभाव और ठोस व्यक्तित्व समाप्त हो गया। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र', रांगेय राघव का 'अजेय खंडहर', नागार्जुन की व्यंगात्मक कविताएँ, गिरजाकुमार माथुर, अज्ञेय का प्रयोग इत्यादि ऐसी ही कृतियाँ हैं। काव्य के क्षेत्र में गद्यकार 'अश्क' का प्रयास बड़ा सबल और ठोस है, जो शिल्प और पच्चीकारी के बाह्याडम्बर से ऊपर उठी हुई युग की महत्वपूर्ण रचना है (देखें अश्क के खंड काव्य-चाँदनी रात और अजगर, बरगद की बेटी इत्यादि), पर उन कृतियों को अबतक उचित मान्यता आलोचकों ने नहीं दी है। संभवतः इसकी ओर आलोचकों का ध्यान गया ही नहीं।

इसी बीच प्रगतिवादी-प्रयोगवादी धारा के रूप में साहित्यिक मूल्यों का मूल्यांकन होने लगा, जो बरबस विभिन्न दृष्टिकोण से सोचने को बाध्य करने लगा। सबल जनवादी दृष्टिकोणवाले साहित्यकारों ने भी मात्र वैचारिक स्फुरणा के अलावा श्रेष्ठ कलात्मक और विराट कृतियाँ हमें नहीं दीं, जिसमें संपूर्ण युग का रेखाचित्र, मानवीय मर्म, वेदना और आशा, निराशा की अभिव्यक्ति हो, और जो महाकाव्यात्मक गरिमा से भी संभवतः समन्वित हो सके। यशपाल, राहुल, अमृतराय, भैरव प्रसाद गुप्त, प्रभृति साहित्यकारों का प्रयास कुछ ऐसा ही रहा हैं। केवल नागार्जुन ने कुछ-एक ग्रामीण एवं जनवादी ताजगी देते हुए गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से प्रेमचन्द की परंपरा में नवीन हस्ताक्षर अवश्य किये, जैनेन्द्र, अज्ञेय- पंत, नवीन इत्यादि पुराना खेल

ही खेलते रहे हैं—लगता है जैसे कि इनके लिए दुनियाँ बदली ही नहीं, इतना सब कुछ हुआ पर कुछ हुआ ही नहीं। नाट्य साहित्य में मात्र अश्क ने यथार्थ के कुछ अच्छे और तीखे चित्र उपस्थित किए हैं, जो सराहनीय भी हैं और स्थिर भी। कहानी साहित्य की भी यही स्थिति रही है। कुल मिलाकर युद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का विकास हिन्दी साहित्य के शिल्प का विकास है।

कुछ विकास तो बड़े उपयोगी सिद्ध हुए, जैसे कि रेडियो-नाट्य-शिल्प, रिपोतार्ज, स्केच, संस्मरण, निबंध इत्यादि लिखने की नवीन प्रणाली का उत्तरोत्तर विकास। आलोचात्मक साहित्य में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी गवेषण और खोज के मार्ग में शुक्ल की परम्परा को बढ़ाते रहे हैं और जो खोज उन्होंने की है, वह महत्वपूर्ण है। डा० रामविलास शर्मा एवं श्री शिवदान जी ने आलोचनात्मक चिन्तन में योगदान देते हुए हमें सोचने का नवीन मार्ग दिया। डाक्टर नगेन्द्र जी ठोस शास्त्रीय सिद्धांतों को स्थापित कर नवीन आलोचना-शास्त्र का निर्माण कर रहे हैं।

[१९५१]

—:०※०:—

प्रसिद्धि का रहस्य

द्विजेन्द्र-गोष्ठी❀ में बड़ी गरमागरमी रही। कुछ इस स्वाभाविक ढंग से चल पड़ी कि कुछ समझ में नहीं आया। मैंने अपनी ओर से उत्तर भी कुछ ऐसा दिया जिसे मैं सोचकर तो नहीं ही दे सकता था, पर अब सोचता हूँ तो वह कुछ सत्य सा ही प्रतीत होता है।

बहस हो रही थी कि कुशवाहा कान्त के उपन्यासों की जितनी अधिक बिक्री होती है, उतनी प्रेमचन्द और अज्ञेय के उपन्यासों की क्यों नहीं होती? यद्यपि प्रेमचन्द, जैनेन्द्र आदि बहुत अधिक प्रचारित एवं सम्मानित हो चुके हैं। इधर-उधर ताका-झांका, कुछ सोचकर देखा तो पता चला कि कुशवाहा कान्त के उपन्यास केवल उन्हीं लोगों के बीच अधिक चलते हैं, जो साहित्य के ज्ञान से कोसों परे हैं अथवा यों कहा जाय कि जिन्हें मात्र कुछ शब्द जोड़ना और लिखना आता है। अब एक प्रश्न और उठता है कि इस प्रकार शब्द जोड़ जोड़ कर प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और अज्ञेय क्यों नहीं पढ़े जाते? क्या उनमें मनोरंजन नहीं? इन प्रश्नों के उत्तर के लिये देखना होगा कि मनुष्य में दो ही प्रकार की भूख सबसे अधिक है—पेट की और सेक्स की! प्रेमचन्द के उपन्यासों में दोनों का समन्वय है। वह पाठकों को नशा पिलाता नहीं, नशे में डूबे लोगों को जगाता है। यही कारण है कि उसका असर उनलोगों पर अधिक होता है जो बौद्धिक दृष्टि से ऊपर उठे हुए हैं, और जिनका स्तर इतना उठा हुआ नहीं है, वे कुशवाहा कान्त से प्रभावित हैं। कोई कोई यह मानते हैं कि कुशवाहा कान्त में सेक्स की समस्या अधिक है, इसलिये लोग उसे अधिक पढ़ते हैं। पर क्या लौकिक जीवन (Practical life) में सेक्स की समस्या इतनी अधिक तीव्र है, मैं तो इसे नहीं मानता। अगर कोई मानते भी हैं तो जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी के उपन्यास उसी पैमाने पर पढ़े जाने चाहिये, जितना कि कुशवाहा कान्त के उपन्यास। पर वास्तव में यह भी नहीं है। यहां भी उसी बौद्धिकता एवं उच्चता का प्रश्न आता है। इस संबंध

❀ कविवर रामेश्वर झा 'द्विजेन्द्र' के नाम पर स्थापित भागलपुर की एक साहित्यिक-गोष्ठी।

में मुझे 'शॉ' की यह बात याद हो आती है कि जैसे जैसे मनुष्य का विकास होता जायगा, उसकी सेक्स की समस्या कम होती जायगी। सम्भवतः इसीलिए उच्चस्तर के पाठकों को कुशवाहा कान्त की कृतियां रुचती नहीं। सम्भवत: इसीलिए जोशी, अज्ञेय आदि के उपन्यासों के प्रति भी पाठकों का उतना आकर्षण नहीं है जितना कि प्रेमचंद के उपन्यासों के प्रति। इसके और भी कारण हैं—कथानक की व्यक्तिगत कल्पनाशीलता, जो कुशवाहाकान्त, अज्ञेय, जैनेन्द्र में कुछ शिष्टता के साथ मुझे एक सी ही दिखाई देती है, क्योंकि व्यक्तिगत कल्पनाशीलता जब प्रत्यक्ष को भूमि पर आती है तो पाठक में जो कुछ आलोचक छिपा रहता है, वह उसे काट देता है। उम्र के अनुसार ये चीजें बढ़ती जाती हैं। फलतः वह गम्भीरता और प्रत्यक्ष की ओर दौड़ता है।

पर जिस दिन हिन्दी के सभी पाठक पूर्ण शिक्षित हो जायेंगे, उस दिन मात्र प्रेमचंद ऐसे कलाकारों की प्रत्यक्षवादी रचनाएँ ही पढ़ी जायंगी—अज्ञेय और जोशी की कृतियां आलमारियों में सजा दी जायंगी और कुशवाहाकान्त तथा इस प्रकार के अन्य लेखकों की रचनाएँ जला दी जाएँगी।

[१९५५]

—o::o—

कहानी

कहानी पर कुछ भी लिखने के पूव एक प्रश्न सामने आ खड़ा होता है कि कहानी हम किसे कहते हैं ? वह अपने आप में क्या कोई चीज थी है ? और तब बरबस कहानी के कार्य और कारण दोनों पर हमारा ध्यान चला जाता है। वस्तुतः इस चिंतन के फलस्वरूप जो कुछ भी बन पाता है वह एक परिभाषा हो जाती है। कहानी शब्द की उत्पत्ति का मूल लोग 'कथानिका', कथानक या आख्यायिका से बतलाते हैं। वस्तुतः कहानी में कथानक होना तो आवश्यक ही होता है। संस्कृत पुराणों में भी इस सम्बन्ध में यदा कदा चर्चा रही है। किन्तु आज जिस अर्थ में हम कहानी का व्यवहार करते हैं, वह परम्परा से कम 'प्रभाव' से अधिक प्रभावित है; और वह प्रभाव है अंग्रेजी साहित्य का। अंग्रेजी में कहानी को 'स्टोरी' (Story) कह कर पुकारते हैं। कोष-अर्थ (A historical narrative or anecdot) एक ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मक वर्णन। भारतीय वाङ्मय में प्रयुक्त आख्यायिका शब्द का भी वही अर्थ है। परिभाषाएँ बनती रहीं, नामकरण होता रहा—हमारे यहाँ भी विदेशों में भी, जैसे Fable, apologue, tale, allegory, fiction, नीतिकथा, दृष्टान्तकथा, कल्पितकथा इत्यादि।

लेकिन इतने से तो हम नहीं समझ पाये और न पकड़ ही पाये कि वस्तुतः इतनी साहित्यिक प्रवृत्तियों के बीच कहानी हम कहें किसे ? वह क्या अधार है जिसपर रखते ही कहानी फौरन पहचानी जा सके।

एडगर एलन पो, वेल्स, हडसन, प्रेमचन्द, अज्ञेय, जैनेन्द्र, यशपाल रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह सभी कोई कुछ जोड़ घटा कर एक ही बात कह जाते हैं जो मेरे शब्दों में-जिस प्रकार किरण की रोशनी में धूलिकण दिखाई पड़ता हैं, उसी प्रकार कहानियाँ जीवन के छोटे-छोटे परमाणु (कण) हैं जो एक मोटी पोथी भी हो सकती है अथवा सम्पादकों की मांग पर कुछ पंक्तियों में भी समाप्त की जा सकती है। किन्तु अपने आप में कहानी बहुत जानदार होनी चाहिए, उसमें कहानीपन हो और सबसे बड़ी शर्त्त यह है —"कथा-साहित्य हमारे व्यक्तिगत और समाजिक जीवन की समस्याओं को परस्पर समाज सम्बन्धों में

पढ़कर जीवन बिताने के माध्यम से हल करने का एक विशेष प्रकार का कलात्मक रूपविधान है।" उपर्युक्त परिभाषा, जो मैंने दी वह, साहित्य का कुछ सर्व साधारण गुण-सा प्रतीत होता है जो संभवत: कहानी की अपनी स्वतन्त्र सत्ता का द्योतक न मानकर काटा जा सके। यह तर्क-प्रणाली और संशयात्मकता ही साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की भिन्नता का प्रदर्शन कर देती है—

एकांकी क्या कहानी नहीं? जीवन का चित्रण तो वह भी है? एकांकी में जो है वह कहानी में है और कहानी में जो है वह एकांकी में, किन्तु कुछ सुधार के साथ। एकांकी मुख्यत: अभिनय एवं रंगमंच के लिए लिखा जाता है, कहानी पढ़ने के लिये। कहानी का रंगमंच जनता का हृदय है, एकांकी का रंगमंच अभिनय है। कहानी में लेखक अपनी ओर से बहुत कुछ कहता है, बाज बाज कहानियाँ इसीलिये प्रचार से विकृत हो जाती हैं, किंतु एकांकी में अपनी ओर से लेखक कुछ नहीं कहता, उसकी जबान पर वहाँ ताला पड़ा रहता है।

निबन्ध और कहानी में क्या अन्तर है? यह भी आप जानना ही चाहेंगे। वर्ण्य विषय पर जोर देना और व्यक्तिगत विचारों का बाहुल्य निबन्ध में रहता है, कहानियाँ अपने में कथानक के सहारे चलती हैं, लेखक का व्यक्तित्व गौण हो जाता है। कहानी तो बस लगती है जैसे जीवन पढ़ रहा हूँ—अतीत, वर्तमान या भविष्य निबन्धों में यह चित्रात्मकता एक तो आ ही नहीं सकती, अगर आयेगी भी तो वर्ण्य-विषय काफूर हो जायगा।

कहानी और उपन्यास को बहुत दिनों तक लोग एक ही तरह की चीज मानते रहे—"कहानी उपन्यास का संक्षिप्त संस्करण है।" किंतु श्री नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं—"उपन्यास में देशकाल और चरित्र आते हैं साध्य बनकर, किन्तु कहानी में इतना स्थान कहाँ कि देश, काल और चरित्र की स्वतंत्र व्यख्या की जा सके। वहाँ तो किसी असाधारण परिस्थिति में किसी असाधारण परिणाम की ओर जानेवाली घटनाएँ और पात्र रहा करते हैं।"

बहुत से लोग **रिपोर्ताज, रेखाचित्र और कहानी** में अन्तर नहीं मानते। वस्तुतः ये तीनों कला-प्रकार एक दूसरे से समता रखते हुए

भी भिन्न हैं। रिपोर्ताज में भी एक कहानी अवश्य रहती है पर कहानी का समाधान नहीं। उसमें नाटकीयता, चरित्र-चित्रण, गीतात्मकता सबों का स्थान है किंतु अनिवार्य नहीं; अनिवार्य है उसमें सत्य घटना। रिपोर्ताज सत्य घटनाओं के आधार पर आधारित हो।

"रेखा चित्रकार एक ऐसा कलाकार है जो अपने परि पार्श्विक जीवन की वास्तविकता के किसी अङ्ग को—पशु, पक्षी, वृक्ष, इमारत, खण्डहर, स्त्री, पुरुष, स्थान, गाँव, मुहल्ला, नगर आदि किसी भी जड़ अथवा चेतन वस्तु को एक-चित्रकार के समान अंकित करता है।

यही अन्तर अन्य कला-प्रकारों से कहानी का है। परन्तु कहानी अपने आप में स्वतन्त्र वस्तु है।

एक प्रश्न पुनः उठता है कि वह कौन सी वस्तु है जो कहानी को अपने आप में स्वतन्त्र बना देती है ? यहीं पर कहानी की अपनी विशेषताओं एवं उसकी बनावट के मूल तत्वों की याद आती है ? प्रेमचन्द के अनुसार कहानी में छः तत्व माने गये हैं—कथा वस्तु (Plot), पात्र कथोपकथन, वातावरण, शैली, उद्देश्य।

आरम्भ से अन्त तक कथावस्तु स्वाभाविक और सत्य हो। पात्र कम हों किन्तु आरम्भ से अन्त तक प्रधान पात्र का रहना आवश्यक होता है। कथोपकथन स्वाभाविक और सजीव के साथ-साथ, यथार्थ भी हो और पात्रों के चरित्र एवं मानव चरित्र का विश्लेषण भी करें। कहानी का वातावरण देश काल परिस्थिति के समावेश के साथ स्वाभाविक भी हो। कहानी की शैली यों तो सभी लेखकों की भिन्न-भिन्न होती है परन्तु उसकी एक 'कॉमन' शैली अवश्य हो जिससे कि आरम्भ प्रसार और अंत तीनों में सामञ्जस्य प्रतीत होता हो। भाषा, वाक्य-विन्यास, उक्तियाँ इत्यादि संतुलित हों। चरित्र-चित्रण के लिए यहाँ उतना स्थान तो नहीं है फिर भी जहाँ—कहीं कहानीकार चरित्र-चित्रण करेगा उसकी इतनी प्रणालियाँ हो सकती हैं—(१) वर्णनात्मक (२) सांकेतिक (३) घटनात्मक (४) कथोपकथन। कहानी के लिए इतना तत्व तो माना गया है परन्तु आज की कहानियाँ केवल एक तत्व के आधार पर भी खड़ी रह सकती हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने "जीवन मर्म या उद्देश्य ही को कहानी का प्राण" माना है और कथानक को प्राण स्थापक शरीर। तीसरा तत्व वह नहीं मानते। आज अंग्रेजी साहित्य में भी कुछ इसी प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं।

किन्तु, क्या उपर्युक्त मान्यताओं को न मानकर कहानी में कोई दोष भी आ जा सकता है ? संभवतः इसका उत्तर नहीं ही दिया जा सकता है। नहीं, इसलिये कि कहानी में दोष आना कुछ तो पाठकों और आलोचकों के विचारों पर निर्भर है और कुछ कहानी लेखक की अपनी योग्यता पर ! कहानी में साधारणतया दोष तभी आ जाता है जब वह युग-जीवन से कट कर एक अजीब सी चीज हो जाती है। वह पाठक को न तो संतुष्ट कर पाती है और न उसमें स्वाभाविकता ही रहती है। जैसे लगता है कि कुछ विरोध है, या शिथिलता आ गई है, बलात् कहानियाँ किसी दिशा की ओर ढकेली जा रही है। कहीं-कहीं वह 'वाद' या विचारों से प्रभावित कहानी की संज्ञा से विमुख होने लग जाती है, पर कहानी की सफलता तो मिस्टर एडगर एलन पो के शब्दों में उसकी Totality में है। "कहानी ऐसी होनी चाहिये", प्रेमचंद कहते हैं, "जिसे पढ़ने के बाद पाठकों को किसी कमी का अनुभव न हो।"

कहानी में शीर्षक का भी स्थान प्रधान है। शीर्षक साधारणतया कहानी का उद्देश्य बतलाये, इसलिए शीर्षक का नामकरण कहानी की सीमा में होना चाहिए, जैसे—(१) कहानी के मुख्य आदर्श या पात्र के नाम पर (२) मुख्य पात्रों के गुणोंपर (३) कहानी के उद्देश्य पर (४) प्रेम संबंधी वृत्तांतों पर (५) वातावरण पर और (६) परिणाम पर।

आज कहानी के कई रूप हो गये हैं—कहानी, छोटीकहानी, लघुकथा इत्यादि। कहानी में कुछ घटनाएँ हो सकती हैं, छोटी कहानी में एक से अधिक घटना नहीं हो सकती, कभी-कभी वह घटनाहीन विश्लेषण मात्र हो जा सकती है। लघुकथा में चिन्तन दृष्टान्त बन कर आते हैं, जो बौद्धिक और नैतिक के साथ-साथ यथार्थ और आदर्श भी हैं।

कहानी की लेखन प्रणालियां भी बढ़ती जा रही हैं—(१) वर्णनात्मक या ऐतिहासिक (२) आत्मचरित्र-प्रणाली (३) पत्र-प्रणाली (४) डायरी-प्रणाली (५) कथोपकथन (६) स्वप्न।

जीवन का सभी अङ्ग कहानी का विषय बन सकता है किन्तु विशेषरूप से हिन्दी में इन अंगों के वर्णन की प्रधानता है—

१ सुखान्त या दुखान्त

२ जासूसी (लोमहर्षक घटनाओं का वर्णन)

३ प्रेम-कहानी

४ साहस प्रधान बालकोपयोगी
५ स्केच अथवा शब्द-चित्र; चरित्र चित्रण प्रधान
६ अन्योक्ति प्रधान
७ हास्य प्रधान
८ सेक्स प्रधान
९ यथार्थवादी

दूसरा वर्गीकरण यों भी हो सकता है—(१) घटना प्रधान (२) पात्र प्रधान (३) काल प्रधान।

कहानी का असर सभी कला में अनिवार्य है और इसका अनिवार्य होना कुछ सार्थक भी प्रतीत होता है। सार्थक इसलिये कि मनुष्य की सभ्यता के साथ-साथ इसका जन्म हुआ। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है····"यह सभ्यता के साथ ताल मिलाकर चलने का प्रयास है। जब कभी मनुष्य ने किसी को किसी स्थान, घटना या देश-काल का वृत्तांत सुनाया होगा, वह क्या स्वयं अपने आप में कहानी नहीं थी? पत्रों द्वारा जब मनुष्य ने अपने देश, परिवार और गांव का हाल लिखा होगा, उस समय कहानी उंगलियों के बल चलने की चेष्टा कर रही होगी और तब नानी की कहानी से परंपरा ग्रहण करती हुई कहानी ने साहित्य का रूप धारण किया होगा।" साहित्य में प्रथम-प्रथम वह कविताका रूप ग्रहण कर सकी। इसीलिये पद्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, पुराण, वीर काव्य, प्रगीत इत्यादि का आधार कहानी ही है। गद्य-युग और आज के मशीन-युग में उसकी कला अधिक निखरने लग गयी है।

[१९५४]

वर्त्तमान हिन्दी कहानी और भविष्य

हमने प्रेमचन्द-पुण्य तिथि के अवसर पर प्रश्न उठाया था कि क्या आज हिन्दी का प्रेमचन्द जन्म ले सका है ? अथवा, क्या हम अपने आप में उतनी बड़ी प्रतिभा को जन्म दे सके हैं ? आज के कहानी साहित्य का क्या मूल्य है ? क्यों कहानियाँ लिखीं जांय ? क्यों पुराने प्रश्न, नये प्रश्नों को छिपा कर, उठाये जांय ? इत्यादि। इन प्रश्नों का उत्तर कुछ शब्दों में यही दिया जा सकता है—"सार्वकालीन और सार्वभौम महत्त्व की दृष्टि से हिन्दी-कहानियों की वही स्थिति है जो प्रेमचन्द के समय में थी।" वह आगे नहीं बढ़ पाई है। उसमें मात्र प्रचारात्मक तत्व की ही अधिकता है, शाश्वत कुछ भी नहीं। "कल्पना के लिए कल्पना द्वारा साहित्य सृजन 'स्टंट लिटरेचर' है।" अज्ञेय, इलाचन्द्र, जैनेन्द्र और फ्रायडवादी-प्रयोगवादियों का साहित्य इस वर्ग में आ सकता है। फलतः आज की कहानियों का कोई महत्त्व नहीं, कोई मान नहीं। 'वे जल्दी-जल्दी में रहने वाले लेखकों द्वारा, झटपट में रहने वाले पाठकों के लिए, जल्दी से भूल जाने के लिये, झटपट तैयार कर ली गयी हैं।" ❀आजकल प्रतिष्ठित कहानीकार भी एक ही कथानक की विभिन्न प्रविधि (टेकनीक) एवं शैलियों द्वारा पुनरावृत्ति करते हैं। फलतः, आज के कहानी-साहित्य का कोई विशेष मूल्य नहीं है। (कुछ कहानीकारों की कहानियों को छोड़ कर) आलोचकों का एक दल यह भी कहता है, कहना भी चाहिए कि जब कहानियाँ कोई नई चीज नहीं दे सकती, समकालीन जीवन की समस्या का समाधान नहीं खोज सकतीं, तो वह लिखी क्यों जांय ? क्यों पुराने प्रश्नों का ही समाधान खोजा जाय, जब कि नये प्रश्न उठकर खड़े हैं ? यह तो कहानीकार का दिवालिया-पन ही है। आज कहानी-साहित्य की यही स्थिति है। किन्तु हमें यह भी देखना चाहिए कि ऐसी स्थिति है क्यों ? इसका क्या हल संभव है ?

उसका प्रथम कारण है, कलाकार की उलझन, और उसका कोई स्पष्ट जीवनदर्शन का न होना। कलाकार "मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों सिद्धान्तों के बीच खड़ा सोच रहा है कि वह किधर जाये।"

❀ डा० देवराज उपाध्याय।

दूसरी बात, कलाकार कुंठाओं में साहित्य की प्रेरणा खोजना चाहता है, जो स्वयं अपने आप में रोग-ग्रस्त, जीवन-हीन, उदासीन है। वह वास्तविक जीवन को छोड़कर अन्तर को सत्य मान बैठा है। जिससे उसे मानवता के विकास और प्रगति पर विश्वास नहीं।..........."नई कला जीवन के प्रति उदासीन तो है ही, उसने बाह्य रूप-प्रकारों के प्रति भी वैराग्य ले लिया है।"

तीसरा कारण है, कहानियों में बौद्धिक सिद्धान्तों का प्रदर्शन या आरोप। कुछ लेखकों ने फ्रायड का अवचेतन कामवृत्ति का अनुकरण किया है और कुछ ने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष का! सच तो यह है कि फ्रायड का सिद्धान्त साहित्य रचना के लिए नहीं वरन् रोगियों की चिकित्सा के लिए बना था। वह मनुष्य को कुंठाओं से मुक्त करना चाहता था, पर फ्रायडवादी सहित्यकार मानव चरित्र के उत्थान के लिए उत्सुक नहीं हैं, न थे। मार्क्स के सिद्धान्तों की भी कम बिदोहना (Exploitation) नहीं आई! और वे अल्पज्ञ विदोहक कालान्तर में प्रयोगवादी कहानीकार बन गये जो मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के समन्वय की चेष्टा करते हैं। मार्क्सवादी धारा ने साहित्य को बहुत कुछ दिया, जहाँ तक कि वह प्रचार न होकर स्वस्थ कला-सृष्टि है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है "मार्क्सवादी साहित्य कितने भी दुर्धर्ष जड़-विज्ञान के तत्ववाद पर आधारित क्यों न हो, वह मनुष्य को केवल नियति का गुलाम नहीं मानता। सिद्धान्त रूप में वह चाहे जो भी स्वीकार क्यों न करता हो, साहित्य में वह मनुष्य को दृढ़चित्त बनाने का कार्य करता है।"

इतनी व्याख्या के बाद अब देखना है कि इस गतिरोध को समाप्त कैसे किया जाय। इस संबन्ध में पहली बात है कि कलाकार को कहानियों में मात्र चमत्कार (Miracle) उपस्थित न कर, सौद्देश्यता की स्थापना करनी होगी। वह जो सोच रहा है, लिख रहा है, वह कुछ है; उस पर उसे विश्वास के साथ जोर देना होगा, ताकि पाठक में कुछ चेतना आये। दूसरी बात, उन सभी समस्याओं का समाधान खोजना होगा। जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उत्पन्न हो सकी हैं, वह आर्थिक है या मनोवैज्ञानिक। हमारे यहां की समस्याएँ, मनोवैज्ञानिक कम आर्थिक अधिक हैं, और आर्थिक कुंठाओं की रोशनी में मनोवैज्ञानिक कलाकार मनुष्य का आकलन नहीं करते बल्कि प्रगतिवादी कलाकार

जब आर्थिक संघर्षात्मक कुंठाओं के आधार पर व्यक्ति की मानसिक दशा का चित्रण करते हैं तब उसे मनोविज्ञानवादी भ्रमवश फ्रायडवाद और मार्क्सवाद का समन्वय कह देते हैं। तीसरी बात, आज का कहानीकार अधिक आशावादी हो। वह आसपास उठते हुए नए जन-जागरण को वैज्ञानिक ढंग से समझकर, यह बतलाने की चेष्टा करे कि नया मानव नये युग को लेकर जन्म ले रहा है। हम उठें और उसका स्वागत करें—

> झनन-झनन टूटती हैं बेड़ियाँ इधर उधर
> मौत से है खेलती जिन्दगी उभर उभर
> अंधकार यह गहन क्या सुबह का भास है
> चाँदनी कराहती, चाँद क्यों उदास है!

नयी पीढ़ी के कलाकार आँख मूँद कर आज के गलत विचारों, टेकनीक और शैली का अनुकरण करते चले जा रहे हैं। पर उन्हें अधिक अध्ययनशील होना चाहिए। न केवल उन्हें पुस्तकों द्वारा आज तक के साहित्य का अध्ययन और मनन ही करना चाहिए, वरन् जिस वर्ग की कहानियाँ वे लिखें उसके विषय में उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान भी रहना चाहिए। अगर वे अध्ययन नहीं करेंगे तो संभवत: पुनरावृत्ति दोष उनके साहित्य मेंआजायगा। दूसरी बात, अगर उन्हें अपने वर्ण्य विषय का ज्ञान नहीं तो वह कल्पना प्रसूत 'स्टन्ट लिटरेचर' भी हो जा सकता है। आज अधिकांश साहित्य के साथ यही शिकायत है। आज की कहानियां युग के प्रतिनिधित्व का दंभ भरती है, पर युग का प्रतिबिम्ब एवं युग का कल्याण उस साहित्य से नहीं हो सकता। "लेखक की चुटीली चोट के कारण थोड़ा वेग से चलती हैं, पर मंजिल मकसूद तक पहुँचते-पहुँचते उनका दम उखड़ जाता है।" ❀ कहानियों में स्वाभाविक मनोभूमि का स्पष्ट चित्रण नहीं, जहाँ खड़े होकर हम भावना की एकता ला सकें।

किन्तु भविष्य में कहानियों को जीवन में समाना होगा; उसी से, उन्हीं की भाषा में निकल कर, उन्हीं के लिए बनना होगा; अन्यथा वह जीवित नहीं रह सकती। मैं ऐसी बात सभी कलाकार एवं सभी कला-

---

❀ डा० देवराज उपाध्याय।

प्रकार के संबंध में कहता हूं। पर जो कलाकार जीवन को किताबी अध्ययन से देखना चाहेगा और सिद्धान्त के कठरे में कथानक (फिटकर) रखकर साहित्य रचना करेगा उसे असफलता हाथ आयेगी; जो जीवन में प्रविष्ट होकर जीवन देखेगा और समाधान खोजेगा और जो शान्ति, प्रगति, आज़ादी एवं जनवाद का पक्षधर है, वह प्रेमचन्द के रूप में पूजा जायगा। अभी तो वस्तुतः प्रेमचन्द ऐसे कलाकार की आवश्यकता है। 'नागार्जुन' के 'बलचनमा' तथा सुधाकर पाण्डेय' के 'साँझ सकारे' के प्रकाशन से हिन्दी को भी आशा बंधी है कि शीघ्र प्रेमचन्द की परंपरा में कुछ न हस्ताक्षर होंगे।

[१९५५]

साहित्य में गतिरोध ?

आज हिन्दी साहित्य में ही नहीं वरन् पाश्चात्य साहित्य में भी गतिरोध की आवाज चारों ओर से सुनाई पड़ रही है। लेकिन देखना यह है कि सचमुच साहित्य में गतिरोध है क्या ? और अगर गतिरोध होता है तो क्यों ? और उसका समाधान क्या है ?

गतिरोध का अर्थ है—जब कला या साहित्य जीवन के अंतर एवं बाह्य दोनों संघर्षों के चित्रणों से कट कर व्यक्तिगत भाव वर्णन में लिप्त हो गया हो, जिस साहित्य में मर्म नहीं रह गया हो जो मानस को शीघ्र आकर्षित एवं प्रभावित नहीं कर रहा हो; सस्ती कलात्मक कृतियों का निर्माण हो रहा हो, शिल्प एवं पच्चीकारियों से अन्वेष्ठित लक्ष्य भ्रष्ट साहित्य जो सरल भाषा-भूषण को छोड़ता जा रहा हो, विभिन्न विचार धाराओं और सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य का निर्माण हो रहा हो—जिसका वस्तुतः आपस में कोई मेल या कोई शाश्वत संगठन नहीं हो।

कविता की ही बात लें*—वहाँ तो आज कोयल की कूक के बदले गीदड़ों की आवाज सुनाई पड़ती है; हाँ, अधिक सावधान सुनने वालों को कभी-कभी नर-सिंह की आवाज अवश्य सुनाई पड़ जाती है (हुँकार और कहर भी)। काव्य में गतिरोध न मानने वाले एक ओर अंग्रेजी पतनशील साहित्य की 'शब्द प्रदर्शनी' का विरोध करते हैं, दूसरी ओर स्वयं शब्द प्रदर्शनी लगाने का शौक भी उन्हें कुछ कम नहीं। और इस प्रदर्शनी को बड़े दम्भ के साथ वे यह कह कर महत्व देते हैं कि इसने हिन्दी काव्य साहित्य को नये शब्द, नये विचार और नया टेकनीक दिया। मैं मानता हूँ यह सब कुछ सत्य है, समकालीन भाषा शैली के विचार और टेकनीक का ध्यान तो रक्खा गया, पर जन जागरण को छोड़ दिया गया ? साहित्य में आपका उद्देश्य क्या है ? कुछ नहीं, मात्र टेकनीक ?

---

* कथा साहित्य के गत्यविरोध के संबंध में तनिक विस्तार से इसी पुस्तक के 'हिन्दी उपन्यास साहित्य' नामक निबंध में विचार किया गया है।

अगर टूटी फूटी कविता भी आज के जीवन की व्याख्या के साथ-साथ जन जीवन की समस्या का समाधान—देती हुई निर्माण की मंजिल तक पहुँचा देती है तो वही सत्य है किन्तु नूतनता और व्यक्तिगत अमरता की इनकी आवाज के भिन्न स्वर को माना नहीं जा रहा है और न वह युग की आवाज है।

एक वर्ग Utopian ideal और अरविन्द दर्शन के माध्यम से आतिमानव (Super humam) की बात कर रहे हैं—"आज मनुज को खोज निकालो।" किन्तु अपने बीच पाकर भी जिस मनुष्य को पहिचान नहीं रहें, उस मनुष्य का साथ नहीं दे रहे जो श्री निराला के शब्दों में "पछताता पथ पर जाता, दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर जाता" और "मानव यहाँ बैल घोड़ा है।" इस वर्ग के कवि इस मानव को जानते अवश्य हैं, पर उनकी चेतना अमरता की लालसा से आक्रान्त उस मानव को खोज रही है जो इस मनोवैज्ञानिक युग में भी अंधे की तरह चलता जा रहा—"राजा राम राम, राम राजा" और ताज के विशालकाय फाटक से जब वह अंधा टकराता है तब उसके विश्व मानव चेतना का स्वप्न टूट जाता है। फिर भी एक बार मस्तिष्क पर जिसकी लकीर पड़ जाती है, उसको सहज में मिटाया नहीं जा सकता! जो अपने वर्तमान को नहीं देख रहा है, उसके लिए भविष्य को देखना तो अत्यन्त कठिन है। जब दूरदर्शिता और स्पष्ट लक्ष्य नहीं तो वह गतिरोध है।

कवियों का एक वर्ग है जो ध्वंस की मशाल जलाये चलते हैं, पर चेतना के अभाव में कहें या और भी किसी कारण से आक्रान्त विज्ञान के जनवादी भविष्य को, रूप को, कार्य को अभिशापित करते रहते हैं—"विज्ञान यान पर चढ़ी हुई सभ्यता डूबने जाती है।" उनके सामने अब केवल एक मार्ग है वर्तमान को छोड़कर भूत की कल्पना और व्याख्या। वर्तमान की समस्या का समाधान खोजने की कोई चेष्टा नहीं। बिहार के अधिकांश कवि इसी वर्ग के सदस्य हैं।

एक वर्ग वह है जो अपने जीवन को इलियट की भाँति चाय की चम्मच से नापना चाहता है जिसके काव्य में कोई स्पष्ट संदेश या काव्यधार नहीं—केवल दौड़ते जाओ कहीं तो सीमा का दर्शन होगा ही! इन कवियों की कविताओं में अधिक बौद्धिकता है, इनके ऊपर फ्रायड के सेक्स और स्वप्न सिद्धांत का अधिक प्रभाव पड़ा है।

ये कविताएँ अंग्रेजी कविता और हिन्दी विचारों का एक गड़मड है। इस संबंध में विशेष रूप से मैं अपने निबंध 'हिन्दी की प्रयोगवादी कविताएँ" में लिख चुका हूँ।

एक अन्य वर्ग है जो आज भी अधिक साहस से कार्य करता जा रहा है किन्तु वह अपनी प्रगति को गतिरोध कह कर पुकारता है। क्योंकि अधिकाधिक लोग उसकी जमायत में नहीं। इसकी चर्चा प्रारंभ में ही हो चुकी है। हाँ, अगर इस वर्ग को समझदार आलोचक या कवि गतिरोध मानकर अधिक कार्य और प्रचार करना चाहते हैं तो साहित्य की उन्नति का यह शुभ लक्षण है।

अब आलोचना की बात लें जिसमें निबंध इत्यादि अन्य कला प्रकारों का भी समावेश किया जा सकता है। एक विद्वान् मित्र ने कुछ दिनों पूर्व कहा था कि हिन्दी साहित्य में आज कोई ऐसा विचारक नहीं जिसकी बात कुछ कांट छांट कर भी बिल्कुल मान ही ली जाय। निस्संदेह किसी साहित्य में एक नेता का न रहना जो साहित्य की बागडोर सँभालता चले, पतन शीलता का प्रमाण है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं श्री गुलाब रायजी मान्य हैं किन्तु वे इतने अधिक तटस्थ हैं कि उससे साहित्य का काम नहीं चल पाता। श्री गुलाब रायजी तो 'काव्य के रूप' एवं 'सिद्धान्त और अध्ययन' की रचना करने के बाद मानों हिन्दी साहित्य से बहुत अधिक तटस्थ रहना ही अच्छा समझते है जब कि इन दोनों महान् आलोचकों को समकालीन साहित्य को "प्यार और डांट" देना आवश्यक था। ऐसा नहीं होना गतिरोध की ही बात तो हो सकती है।

इतनी व्याख्या के बाद साधारणतया एक प्रश्न उठ खड़ा होता है, होना भी चाहिये कि गतिरोध क्यों आखिर इस समय ही साहित्य में आ गया है ? समकालीन परिस्थिति को देखते हुए केवल यही कहना होगा कि "आज कलाकार कोई ऐसा मार्ग नहीं पा रहे हैं जिसपर उन्हें पूर्ण आस्था हो।" आज इसी निराशावादी मनोविश्लेषण का अंग्रेजी कविता साहित्य में भी उथल-पुथल मचा हुआ है। गत दो महायुद्धों से आक्रान्त मानवता दम तोड़ रही है। एक ओर जीवन की समस्याएँ हैं दूसरी ओर महायुद्ध की विभीषिका की भयंकर आशंका!··· इस घुटन की स्थिति में कवि (साहित्यकार) भी पड़ा है। ऐसी स्थिति अधिकतर पूँजीवादी देशों की एवं उन राष्ट्रों की है जो अपने को

स्वतंत्र मानते हैं पर जो वास्तव में स्वतंत्र नहीं* "कार्लमार्क्स के सिद्धान्त और गांधीवाद के बीच खड़ा भारतवर्ष यह सोच रहा कि वह किधर जाये।"—('दिनकर' अर्द्ध नारीश्वर पृष्ठ १०६)

पं० उदयशंकर भट्ट ने भी कुछ इसी प्रकार की आशंका पद्मसिंह शर्मा के 'इन्टरव्यू' में व्यक्त की थी।

गतिरोध के संबंध में एक बात और है—यथार्थ को अधिकाधिक (गद्य एवं पद्य में) यथार्थ रूप में ग्रहण न करना। उपर्युक्त बातों को छोड़कर अगर कलाकार सहज यथार्थ को पकड़ लेना चाहे तो भी गतिरोध समाप्त हो जा सकता है, जैसा हेनरी जेम्स ने (Henry James) उपन्यास के विषय में कहा है और जो साहित्य की सभी धारा के लिये भी सत्य है—"The air of reality seems to me to be the supervirtue of novel," यथार्थ का वातावरण साहित्य के लिये महान् सत्य है' और सत्य अपने आप में एक आदर्श है, निर्माण है।

गतिरोध को सुलझाते हुए दिनकर कहते हैं—"व्यक्ति और समूह के बीच जो यह द्वन्द्व छिड़ा है, उससे भारतवर्ष के ही नहीं, प्रत्युत्, अखिल विश्व के साहित्यकार कुछ विचलित से हो रहे हैं। किन्तु यह विचलित होने की बात नहीं है। साहित्यकारों के बीच सबसे बड़ी सफलता तो हमेशा उन्हीं को मिली है, जो अपनी अनुभूतियों को उस समाज की अनुभूतियों से मिलाकर लिखते थे, जिसमें उनका जन्म और विकास हुआ था।"

गतिरोध के यही प्रमुख विन्दु हैं। अगर इन्हें सुलझाकर कलाकार अपने मस्तिष्क का स्थिरीकरण करे तो अवश्य साहित्य में गतिरोध की संभावना नहीं रहेगी।

---

*(देखें इस पुस्तक में संकलित निबंध 'प्रयोगवादी कविताएँ)।